# जवाहर-साहित्य प्राप्ति स्थान

* **श्री जवाहर विद्यापीठ**
भीनासर ( बीकानेर–राजस्थान)

* **श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ**
समता भवन, बीकानेर–३३४००५

* **श्री जैन जवाहर मित्र-मण्डल**
महावीर बाजार,
ब्यावर (राजस्थान)

श्री जवाहर किरणावली—किरण—१०

# सम्यक्त्वपराक्रम

## ( भाग 3 )



प्रवचनकार

**पूज्य आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा.**



सम्पादक

**श्री पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ**




प्रकाशक

**श्री जवाहर विद्यापीठ**

भीनासर (बीकानेर) राजस्थान

△ प्रकाशक—श्री जवाहर विद्यापीठ
भीनासर (बीकानेर) राजस्थान

△ द्वितीय संस्करण
जुलाई–१९७२
तृतीय संस्करण
दिसम्बर–१९८४
चतुर्थ संस्करण
जून–१९९४

△ आवरण : अमित भारती, बीकानेर

△ मूल्य : 14) रुपये

△ मुद्रक—
जैन आर्ट प्रेस
समता भवन, बीकानेर (राजस्थान)
पिन–३३४००५

25% छूट श्री जवाहर विद्यापीठ द्वारा

# प्रकाशकीय

25% छूट श्री ... मोहनलाल
चोरड़िया मद्रास एवं स्व. रंगलाल जी
... की पुण्य स्मृति में उनके सुपुत्र
श्री ... चंद बांठिया, मद्रास द्वारा

श्रद्धेय आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. विश्व विभू-
ायों में एक उच्चकोटि की विभूति थे। अपने युग के
ांतदर्शी, सत्यनिष्ठ, तपोपूत संत थे। उनका स्वतंत्र चिंतन,
राग्य से ओतप्रोत साधुत्व, प्रतिभासंपन्न वक्तृत्वशक्ति एवं
क्ति योग से समन्वित व्यक्तित्व स्वपर कल्याण कर था।

आचार्य श्री के विचारों में मौलिकता तो थी ही,
ाथ ही उन्हें जन-जन के समक्ष रखने का भी साहस
ा। इसका पता इसी बात से लगता है कि वे अपने राष्ट्र
हण और राष्ट्र धर्म को साधु मर्यादा में भी भूले नहीं थे,
ल्कि खादी, अछूतोद्धार, देश भक्ति, राष्ट्रप्रेम एवं अल्पा-
भ महारंभ जैसे विचारों को अपने प्रवचनों में व्यक्त करते
हे।

आचार्य श्री मानवता के पुजारी थे। मानवता आपकी
ष्टि में सब से बड़ा धर्म था। दया, प्रेम, करुणा, परस्पर
हानुभूति मानवता के स्वाभाविक गुण हैं और जो मत या
ंप्रदाय इनके विरुद्ध प्रचार करने के साथ साथ आचा-
ात्मक रूप में अपनाने का दुराग्रह करता है, वह आपकी
ष्टि में मानवता का रोग रहा। उसका प्रबलतम विरोध
रना तथा उसे मिटा देना आप अपना कर्त्तव्य मानते थे।

आचार्य श्री की आगमों पर अटूट श्रद्धा थी। सर्वज्ञ
थन में अविश्वास करना अथवा यथेच्छा परिवर्तन करके
वार्थ पूर्ति के लिए माध्यम बनाना सह्य नहीं था। उनकी
ाणी में युगदर्शन की छाप थी, लेकिन प्रमाणभूत शास्त्रों

से किंचिन्मात्र भी इधर उधर नहीं होते थे। जितनी श्र
अडिग थी, उतने ही आचार के प्रति सजग थे। प्रस्
'सम्यक्त्व पराक्रम' इन्हीं महामहिम का प्रवचन संग्रह है

सम्यक्त्व पराक्रम उत्तराध्ययन सूत्र का सर्वोत्कृ
अध्ययन है। इसमें आध्यात्मिक विकास का सजीव उप
बताया गया है। पूज्य जवाहराचार्य ने अपने प्रवचनों
द्वारा इस अध्ययन की सरल से सरलतम व्याख्या कर
आशय को समझाने के लिए विशेष सुविधा जनक ब
दिया है। जिससे साधारण से साधारण पाठक अध्ययन
विशेषताओं को सरलता से समझ सकता है।

ज्योतिर्धर आचार्य के प्रवचनों को प्रकाशित क
का महत्तम कार्य श्री जवाहर विद्यापीठ के माध्यम से नि
तर चल रहा है।

आठवीं नौवीं किरण में श्री उत्तराध्ययन सूत्र
सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन के २० बोलों तक के व्याख्य
प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत किरण में चौतीस बोलों त
का विवेचन आया है।

इसके हिन्दी एवं गुजराती के दो संस्करण
हितेच्छु श्रावक मंडल—रतलाम और जैन ज्ञानोदय सोसाइट
राजकोट द्वारा प्रकाशित हुए।

तत्पश्चात् श्री जवाहर विद्यापीठ से तीन संस्कर
प्रथम संस्था एवं द्वितीय, तृतीय धर्मनिष्ठ सुश्राविका बह
श्री राजकंवर बाई मालू, बीकानेर की तरफ से प्रकाशि
हुए। सत्साहित्य के लिए बहन श्री की निष्ठा चिर स्म

'य रहेगी ।

अब सम्यक्त्व-पराक्रम भाग एक से पांच तक का
ाशन राणावास हाल बेंगलोर एवं हुबली (कर्नाटक) के
ारिया परिवार की ओर से किया जा रहा है ।

'अणदा जी' के नाम से विख्यात स्व. सेठ श्री
नन्दमल जी सा. कटारिया के पांच पुत्र रत्नों-स्व. श्री
लतराम जी, स्व. श्री वनेचन्द जी, स्व. श्री हीराचंद जी
. श्री दीपचंदजी एवं स्व. श्री चुन्नीलाल जी की व्या-
ायिक, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक एवं पुण्यार्थ कार्यों
क्षेत्र में एक विस्तृत एवं यशस्वी परंपरा रही है । विद्य
ारी-राणावास की लगभग सभी शिक्षण संस्थाएं एवं आनंद
स्पीटल आपके आर्थिक एवं सक्रिय सहयोग से पुष्पित
ं पल्लवित हुए हैं ।

समता-विभूति आचार्य श्री नानेश का वि० स० २०३७
यशस्वी ऐतिहासिक राणावास-चातुर्मास कटारिया परि-
र के अथक प्रयास एवं तन, मन, धन के सहयोग से संपन्न
ा, जो चिर-स्मरणीय रहेगा ।

शासन प्रभावक, दक्षिणदीप श्री धर्मेश मुनि जी म.
. ठाणा तीन के हुबली चातुर्मास एवं दक्षिण प्रवास के
मय भी कटारिया परिवार का सक्रिय सहयोग अविस्मर-
ीय है । दक्षिण भारत में शासन-प्रभावना के संदर्भ
इस परिवार ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया ।

सम्यक्त्व-पराक्रम के भाग तृतीय का चतुर्थसंस्करण
० श्रेष्ठीवर्य हीराचन्दजी सा. कटारिया एवं उनकी धर्म-

पत्नी श्री जड़ाव वाई कटारिया की पुण्य स्मृति में प्रकाशि
किया जा रहा है ।

श्री हीराचंदजी सा. के योग्य सुपुत्र श्री घीसूलाल
कटारिया अपने प्रतिष्ठान "शा. हीराचंद वनेचंद एन्ड क
हीरेपेठ–हुवली का अपनी यशस्वीकुल परंपरा के अनुसा
कुशल संचालन कर रहे हैं ।

आपने लक्ष्मी उपार्जन के साथ धार्मिक, शैक्षणि
सामाजिक एवं पारमार्थिक कार्यों में मुक्त हस्त से धन वि
र्जन कर लक्ष्मी का सदुपयोग भी किया है । लक्ष्मी
सदुपयोग करने के संस्कार आपको विरासत में तो मिले ह
साथ साथ धर्मपत्नी श्री पानी वाई का भी इस सद्कार्य
में आपको सदैव समर्पित सहयोग मिलता रहता है । उद
रमना श्री घीसूलाल जी सा. के पुत्र एवं पुत्रवधूएं–श्री म
द्रकुमार जी (शांता वाई), श्री मदनलाल जी (मनीषा वाई
एवं श्री सुनीलकुमार जी भी अपनी यशस्वी कुल परंपरा
अनुसार अपने आप को सत्पथ पर अग्रसर किये हुए हैं

पुत्रियां सरोज, संगीता एवं सीमा भी सेवा एवं
भावना के साथ जीवन को निर्मित कर रही है यह परि
एवं समाज के लिए गौरव का विषय है ।

आशा है भविष्य में भी संस्था को आपका सह
मिलता रहेगा ।

श्री जवाहर किरणावलियों के लिए अर्थ सह
इकट्ठा करने में समाज-सेवी श्री खेमचंद जी छल्ल
(गंगाशहर) ने मुख्य भूमिका का निर्वहन किया है ।

स्था उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती है ।

मुद्रण कार्य को यथाशीघ्र सम्पन्न करने हेतु जैन
लार्ट प्रेस के प्रभारी एवं सभी कर्मचारी भी धन्यवाद के
कत्र हैं ।

निवेदक

| | |
|---|---|
| **ालचन्द सेठिया** | **सुमतिलाल बांठिया** |
| अध्यक्ष | मन्त्री |

**श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर ( बीकानेर )**



**25% छूट श्री जवाहर विद्यापीठ द्वारा**
**25% छूट श्री सागरमल मोहनलाल**
**चोरड़िया मद्रास एवं स्व. रंगलाल**
**का की पुन्य स्मृति में उनके सुपुत्र**
**सुगनचन्द घोका, मद्रास द्वारा**

## —: विषयसूची :—





# इक्कीसवां बोल

## परिवर्त्तमान



प्रतिप्रच्छना का विचार करने के पश्चात् यहां परिव-र्त्तना-पनावर्त्तना ( शास्त्र की आवृत्ति ) करने के विषय में विचार करना है। इस विषय में भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है—

## मूलपाठ

**प्रश्न—परियट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?**

**उत्तर—परियट्टणयाए णं वंजणाइं जणेइ, वंजणलद्धि च उप्पाएइ।**

## शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सूत्र सिद्धान्त की आवृत्ति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—बार-बार सूत्र की आवृत्ति करने से विस्मृत व्यंजन (अक्षर) याद हो जाते हैं और उससे जीव को अक्षर-लब्धि और पदानुसारी लब्धि प्राप्त होती है।

## व्याख्यान

सूत्र की वाचना लेने के पश्चात् प्रतिपृच्छना द्वारा सूत्रों और अर्थ को असंदिग्ध बना लिया जाता है। मूल सूत्र और अर्थ की बार-बार आवृत्ति न की जाये अर्थात् उन्हें पुनः-पुनः फेरा न जाये तो सूत्र और अर्थ का विस्मरण हो

जाता है। अतएव सूत्र और अर्थ की आवृत्ति करते
चाहिए। यहां भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि
अर्थ को आवृत्ति करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—सूत्र
अर्थ की आवृत्ति करने से व्यंजनों का लाभ होता है.
भूले हुए व्यंजन याद आ जाते हैं और साथ ही साथ
नुसारी लब्धि भी प्राप्त होती है।

जैसे दीपक पदार्थ को प्रकाशित करता है, उसी
व्यंजन भी भाव-पदार्थ को प्रकाशित करता है।
व्यंजक अर्थात् प्रकाशक है। जैसे अंधकार में रखी हुई
प्रकाश के अभाव में दृष्टिगोचर नहीं होती उसी
आत्मा व्यंजनों के ज्ञान के अभाव में वस्तु का ज्ञान
नहीं कर सकता। व्यजनों का ज्ञान होने से आत्मा
बातें जान सकता है। यह कहावत तो प्रचलित ही है
पढ़े-गुने के चार आंखें होती है, अर्थात् उसके दो
तो होते ही हैं, पर पढ़ने लिखने से हृदय के नेत्र भी
जाते हैं। हिन्दू शास्त्रों में महादेव को त्रिनेत्र अर्थात्
आंखों वाला बतलाया है। दो आंखें तो सभी के होत
मगर तीसरी आंख जिसे प्राप्त होती है, वह महादेव
जाता है। महादेव की तीन आंखो की कल्पना क्यों क
है, यह कहना कुछ कठिन है। मगर यह सरलतापूर्वक
जा सकता है कि हृदय की आंख बंद रखने वाला
कहलाता है और जो हृदय-चक्षु को खुला रखता है
महादेव हो जाता है। हृदय की आंख खुली होने प
अगर खराब काम किये जाएं तो कैसे कहा जा सक

इसकी हृदय की आंख खुली है ? वह तो मानों देखते भी अन्धा है। हाँ जो हृदय की आंख खुली रखकर कार्य में प्रवृत्ति करता है वह शिव अर्थात् कल्याणकारी जाता है।

भगवान् का कथन है कि सूत्र-सिद्धांत की परावर्त्तना आवृत्ति करने से विस्मृत व्यंजनों का स्मरण हो जाता यही नहीं वरन् व्यंजन की लब्धि भी उत्पन्न होती है। रों के मिलने से शब्द बनता है और शब्दों के मेल से य बनता है। सूत्र-सिद्धांत की आवृत्ति करते रहने से पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होती है कि जिससे एक र बोलने से पूरा शब्द और एक शब्द बोलने से पूरा य तथा एक वाक्य बोलने से दूसरा वाक्य बन सकता है जाना जा सकता है। अर्थात् एक पद सुनने से दूसरा बनाने की शक्ति आ जाती है। इस प्रकार की शक्ति नुसारिणी लब्धि से प्राप्त हो सकती है और यह ब्ध सूत्र-सिद्धान्त की आवृत्ति करते रहने से उत्पन्न ी है।

आवृत्ति न करने से किस प्रकार की हानि होती है? विषय में बचपन में सुनी हुई एक कहावत याद आ ती है। इस कहावत में गुरु शिष्य से पूछता है—

पान सड़े घोड़ा अड़े, विद्या वीसर जाय।
तवा पर रोटी जले, चेला किण काय॥

इस प्रश्न के उत्तर में चेला ने कहा, 'न फेरने से'। र्तात्–पान न फेरा जाये तो वह सड़ जाता है, घोड़ा न

फिराया जाये तो वह अड़ियल हो जाता है, विद्या न
जाये अर्थात् विद्या की आवृत्ति न की जाये तो वह वि
हो जाती है और यदि तवा पर डाली हुई रोट न फि
जाये तो वह जल जाती है। इस प्रकार सब वस्तुओं
फेरने की आवश्यकता रहती है। वास्तव में यह श्र
संसार ही परिवर्तनशील है। संसार का परिवर्तन न हो
संसार का अस्तित्व भी न रहे। बालक जन्म लेने के
यदि बालक ही बना रहे उसकी उम्र में तनिक भी
वर्तन न हो तो जीवन की मर्यादा कैसे कायम रह स
है? अतएव प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होते ही रहना चाहि
सूत्र की आवृति करते रहने से व्यंजनों की प्राप्ति होत
विस्मृत व्यंजन याद आ जाते हैं और पदानुसारिणी
उत्पन्न होने से, अक्षर से शब्द, शब्द से वाक्य और
से दूसरा वाक्य बनाने की शक्ति उत्पन्न होती है।
वाक्य सुनकर दूसरा वाक्य और पद सुनकर दूसरा
किस प्रकार बनाया जाता है, यह समझने के लिए
उदाहरण उपयोगी होगा—

एक बार राजा भोज ने एक आश्चर्यजनक
देखी उसने देखा–एक ब्राह्मण के घर उसके पिता
का श्राद्ध होने के कारण, उसने श्राद्ध के योग्य भोजनस
तैयार कराई। उस ब्राह्मण की ऐसी मान्यता थी कि
लोग कौवा बनकर आते हैं। इस विचार से वह कौवे
भोजन खिला रहा था। कौवे भोजन करने लगे।
ब्राह्मण की स्त्री भोजन की सामग्री बचाना चाहती
अतः कौवों को देखकर वह भय करने लगी। वह ब्रा
पत्नी भोजन-सामग्री बचाने के लिए ही ऐसा भय प्र

लगी मानो कौवों से डरती हो ।

राजा ने उस ब्राह्मणी को इस प्रकार दिनदहाड़े कौवों
ायभीत होते देखकर विचार किया—जो स्त्री दिन के
ा कौवों से डरती है, देखना चाहिए उसका चरित्र कैसा
इस प्रकार विचार कर राजा छिपे वेश में उस स्त्री
ारित्र का पता लगाने लगा ।

ब्राह्मण जब कौवों को भोजन खिला रहा था तब
की पत्नी कहने लगी—'मुझे कौवों का डर लगता है'
ा कहकर वह कांपने लगी । स्त्री को कांपते देखकर
के पति ने कहा—'अगर तुझे इतना डर लगता है तो
ौवों को खिलाना ही बंध कर देता हूं ।' इस तरह
ब्राह्मणी की मुराद पूरी हुई । अर्थात् भोजन-सामग्री
लेने के लिए उसने जो युक्ति रची थी, वह सफल हुई ।

रात्रि का समय हुआ । ब्राह्मणी नें बची हुई भोजन-
ाग्री एक डिब्बे में बन्द की और डिब्बा सिर पर रखकर
ना हुई उसका कोई जार पति नदी के दूसरे किनारे
ा था । ब्राह्मणी अपने जार के पास जाना चाहती थी
र बीच नदी आती थी और नदी में ग्राहमगर आदि
ुओं का भय था । उस स्त्री ने साथ लायी हुई भोजन-
ाग्री एक ओर नदी में फेंक दी । ग्राह-मगर आदि जन्तु
ान-सामग्री खाने में लग गये और वह नदी के परले पार
ी गई । अपने जार के पास पहुंच कर और मनोरथ पूर्ण
रके वापस लौटी । छिपे वेश में राजा भोज ने यह सब
टना देखी । राजा सोचने लगा मैं तो यह घटना जान
या हूं मगर इस प्रकार की घटनाएं घटती हैं, यह बात

लोग जानते हैं या नहीं, यह भी मालूम करना चाहि
इस प्रकार विचार कर उसने अपने पण्डितों की
में कहा—

दिवा काकस्य भयात्

अर्थात्—'दिन के समय काक से डरती है।' इ
कहकर उसने पण्डितों से कहा कि—अब आप लोग क
कि इससे आगे क्या होना चाहिए ? दूसरे पण्डित तो
रहे, मगर कालीदास ने कहा—

रात्रि तरति निर्मलजलं

अर्थात्–'वही रात्रि के समय जल में तैरती
यह सुनकर राजा ने कालीदास से कहा–

तत्र वसन्ति ग्राहादयो

अर्थात्–जल में तो ग्राह आदि जन्तु रहते हैं।
उत्तर में कालीदास ने कहा–

मर्म जानन्ति सासनीन्द्रिका?

अर्थात्—जो दिन में कौवों से डरती है और रा
नदी पार कर जाती है वह स्त्री ग्राह-मगर आदि ज
से बचने का उपाय भी जानती है।

जैसे कालीदास ने एक पद सुनाकर दूसरा पद
दिया, उसी प्रकार एक पद सुनकर दूसरा बना लेने की
पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होने से ही प्राप्त होती है
आलस्य करने से नहीं प्राप्त होती।

ा। शास्त्र कहता है—हे मुनियो ! अगर तुम सूत्र की ावृत्ति करते रहोगे तो तुम्हें पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त ो। जैसे हथियार घिसते रहने से तीखा रहता है, उसी ार सूत्रविद्या की आवृत्ति करते रहने से आपकी विद्या तीक्ष्ण रहेगी।



# बाईसवां बोल

## अनुप्रेक्षा

सूत्र की परावर्त्तना के विषय में इक्कीसवां बोल कहा चुका है। अब अनुप्रेक्षा विषयक प्रश्न उपस्थित होता । सूत्र की आवृत्ति करने वाले को अनुप्रेक्षा करनी ही हिये। सूत्र और अर्थ के विषय में विचार करके, उसमें तत्त्व की खोज करना अनुप्रेक्षा है। केवल सूत्र पढ़ लेवें त्र से कुछ नहीं होता। कितने ही विद्वान ऐसे देखे या े जाते हैं, जिनका भाषण सुनकर लोग चकित हो जाते । मगर उनका आचरण देखा जाए तो आश्चर्य के साथ ही कहना पड़ता है कि जिनका भाषण इतना चमत्कारपूर्ण उनका यह आचरण है ! आचरण और भाषण में इस कार अन्तर होने का कारण यही है कि उन्हें असली पद्धति शिक्षा नहीं दी गई है अथवा उन्होंने शिक्षा की वास्त-विक पद्धति नहीं अपनाई है। इसीलिए जैनशास्त्र का कथन कि ली हुई सूत्रवाचना के विषय में पूछताछ-परिपृच्छना करो, ार-बार आवृत्ति करो और उस पर एकाग्रतापूर्वक चिन्तन

करो अर्थात् सूत्रार्थ का मनन करके विचार करो। ·
का मननपूर्वक विचार करने से अत्यन्त आनन्द का
होता है। इस प्रकार अनुप्रेक्षा में बड़ा ही आनन्द है
आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता। उस आन
वही जान सकता है जो उसका अनुभव करता है।
अनुप्रेक्षा में अनिर्वचनीय आनन्द समाया है, उसके वि
भगवान् से यह प्रश्न किया गया है—

## मूलपाठ

प्रश्न—अणुप्पेहाए णं भंते ! जीव किं जणयइ

उत्तर—अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्त क
डीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओप करेइ
कालठिइयाओ हस्सकालठिइयाओ पकरेइ तिव्वाणु
मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्पएसग्गाओ अप्पपएसग्गा
रेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ सिय णो बंधई,
वेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ।
च णं अणवयग्गं व हमद्धं च उरंतसंसारकंतारं खि
वीइवयइ।

## शब्दार्थ

प्रश्न—भगवान् ! अनुप्रेक्षा (सूत्रार्थ के चिन्त
जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—जीव अनुप्रेक्षा रूप स्वाध्याय से आयु
छोड़ कर शेष सातों कर्मों की गाढ़ी बन्धी हुई प्रकृति
शिथिल करता है। अगर वह प्रकृतियां लम्बे काल
स्थिति वाली हों तो अल्पकालीन स्थिति वाली बनत

न्न रस वाली हों तो मंद रस वाली बनती है। बहुत शों वाली हों तो अल्प प्रदेश वाली बनती है। आयु र्म कदाचित् बन्धता है, कदाचित् नहीं बन्धता। अर्थात हले आयुकर्म न बन्धा हो तो बन्धता है, अन्यथा नहीं। साता वेदनीय कर्म नहीं बन्धता और वह जीव अनादि नन्त और चतुर्गति रूप अपार संसार को शीघ्र ही पार र लेता है।

## व्याख्यान

अनुप्रेक्षा (सूत्रार्थ का चिन्तन) करने से लाभ होता , यह बात प्रसिद्ध है। मगर शिष्य को गुरु के मुख से ान सुनने में आनन्द आता है। इसीलिए भगवान् से यह श्न किया गया है कि अनुप्रेक्षा करने से जीव को क्या ाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् नें जो कुछ हा है, उस पर विस्तार के साथ विचार करने का अभी मय नहीं है। अतएव संक्षेप में यही कहना पर्याप्त होगा क अनुप्रेक्षा करने से जीव को प्रसन्नता होती है और उससे से बड़ा लाभ होता है। अनुप्रेक्षा करने से जीव को बहि-ग आनन्द भी होता है। किन्तु शास्त्र बहिरंग आनन्द को ाभ नहीं समझता, अन्तरंग आनन्द को ही लाभ रूप मानता । अन्तरंग आनन्द ही सच्चा आनन्द है। लोग बाह्य ानन्द को आनन्द मानकर भ्रम में पड़े हैं पर शास्त्र ऐसी ूल किस प्रकार कर सकता है? वस्तुतः आत्मा को तो न्तरंग आनन्द और अन्तरंग लाभ की ही आवश्यकता है।

अनुप्रेक्षा करने से बुद्धि में और विवेक में जागृति ाती है। आप बुद्धि को बड़ी समझते हैं? या संसार के

पदार्थों को बड़ा समझते हैं ? बचपन में हमसे पूछा
था कि अकल बड़ी या भेंस ? मैं इस प्रश्न का उत्तर
करता था कि भेंस बड़ी नहीं, अक्ल बड़ी है। जब दो
पूछा जाता कि भेंस क्यों बड़ी नहीं और अक्ल क्यों
है ? तो मैं उत्तर देता—एक अकलमंद बहुत-सी भेंसों
चरा सकता है और कम अकल को एक ही भेंस मार सकत

इस प्रकार अन्य पदार्थों की अपेक्षा बुद्धि महान्
रेल, तार, वायुयान आदि का बुद्धि द्वारा ही आवि
हुआ है। अन्तरग और बहिरंग वस्तु में भी ऐसा ही
समझना चाहिए। अन्तरग वस्तु बुद्धि के समान है
बहिरंग वस्तु भेंस के समान है। ऐसा होते भी
किसे चाहते हैं ? आप बाह्य वस्तुओं को चाहते हैं या
रंग वस्तुओं को ? कहीं बाह्य वस्तुओं के लिए आप
के दुश्मन तो नहीं बन जाते ? अगर आप बुद्धि के दुश्म
बनते हो तो आपको उपदेश देने की आवश्यकता ही न
जहां रोग ही न हो वहां डॉक्टर की क्या आवश्यकता
और जहां रगड़े-झगड़े न हों वहां वकील की क्या ज
है ? इसी प्रकार अगर आप बुद्धि के शत्रु न बनते हो
हमें उपदेश देने की आवश्यकता ही क्यों पड़े ? जनता
उपदेश इसी कारण देना पड़ता है कि वे बुद्धि के शत्रु
कर खान-पान, पहनावा आदि में बाह्य पदार्थों को म
देते हैं और विवेक-बुद्धि को तिलांजलि दे बैठते हैं।
लोग सदैव विवेक बुद्धि से काम लेते हैं उनके लिए उ
की आवश्यकता ही नहीं रहती।

आप लोग शरीर पर पांच-छह कपड़े पहनते

न्तु क्या आपका शरीर इतने अधिक कपड़े पहनना चाहता
? विवेकबुद्धि कहती है कि शरीर को इतने वस्त्रों की
वश्यकता नहीं है, फिर भी लोग ध्यान नहीं देते और
धिक कपड़े लादते हैं। यह कार्य बुद्धि के शत्रु होने के
ान है या नही ? इसी प्रकार अनयान्य कार्य भी ऐसे किये
ते हैं, जिनसे बुद्धि की हीनता प्रकट होती है और साथ
साथ शरीर की, स्वास्थ्य की, धन की और धर्म की भी
नि होती है। फिर भी लोग इस ओर लक्ष्य नहीं देते।
प्रेक्षा करने से विवेकबुद्धि जागृत होती है और विवेक
द्धि की जागृति के फलस्वरूप हानिकारक वस्तुओं को त्यागने
विचार उत्पन्न होता है सूत्रार्थ का चिन्तन अर्थात् अनु-
ा करने से विवेक बुद्धि जागृत होती है।

साधारणतया अनुप्रेक्षा के अनेक अर्थ होते हैं, मगर
स्वाध्याय के साथ सम्बन्ध होने के कारण अनुप्रेक्षा का
है तत्त्वविचार करना। भगवान् से प्रश्न किया गया
कि अनुप्रेक्षा करने से अर्थात् सूत्रार्थ का चिन्तन करने से
को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भग-
ने कहा है-अनुप्रेक्षा करने से अध्यवसाय को विशुद्धि
ी है और उससे आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों
गाढ़ी बन्धी हुई प्रकृतियां शिथिल हो जाती है। कदा-
त् निकाचित् कर्म का बन्धन हो तो वह भी शिथिल हो
ता है।

टीकाकार का कथन है कि अनुप्रेक्षा निकाचित् कर्म
भी अपवर्तनाकरण के योग्य बना देती है। कारण यह
कि अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का एक अंग है और स्वाध्याय

न्ध को ढीला कर देता है। इसी प्रकार सात कर्मों को
प्रकृति लम्बे समय की स्थिति वाली होती है उसे अल्प-
ल की स्थिति वाली बना देती है। अर्थात् दीर्घकाल में
ने योग्य कर्मों को अल्पकाल में भोगने योग्य बना देती
इसके अतिरिक्त अनुप्रेक्षा से तीव्र अनुभाग भी मन्द
भाग के रूप में परिणित हो जाता है अर्थात् तीव्र रस
कर्म मन्द रस वाले हो जाते हैं। यहां तीव्र अनुभाग
तीव्र अशुभ अनुभाग ही ग्रहण करना चाहिये। अनुप्रेक्षा
द्वारा तीव्र रस देने वाले कर्म मन्द रस देने वाले बन जाते
परन्तु यह बात अशुभ प्रकृतियों के लिए ही समझना
हिए। अगर शुभ अनुभाग हो तो शुभ अनुभाग में वृद्धि
है और अशुभ अनुभाग हो तो अशुभ अनुभाग की
होती है, मगर अनुप्रेक्षा तीव्र अशुभ अनुभाग को मन्द
देती है और शुभ अनुभाग की वृद्धि करती है, क्योंकि
प्रेक्षा शुभ है। शुभ से शुभ की ही वृद्धि होती है और
भ से अशुभ की वृद्धि होती है।

अनुप्रेक्षा से और क्या लाभ होता है? इसके लिए
वान् कहते हैं-अनुप्रेक्षा बहुत प्रदेशों वाली कर्म प्रकृति
अल्प प्रदेश वाली बनाती है।

तात्पर्य यह है कि अनुप्रेक्षा से ऐसा शुभ अध्यवसाय
न्न होता है कि वह कर्म की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग
र प्रदेश-इन चारों के अशुभ बन्धनों को शुभ में परि-
कर देता है।

यहां एक प्रश्न किया जा सकता है, वह यह कि यहां
गुकर्म को छोड़ देने का क्या कारण है? शुभ परिणाम

ं करता है, परन्तु वह बार-बार बन्ध नहीं करता है। ।। अतिरिक्त पाई टीका के अनुसार यहाँ यह पाठान्तर है—

सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणई।

अर्थात्—अनुप्रेक्षा करने वाला बार-बार सातावेदनीय बान्धता है।

यह पाठान्तर भी ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि यहां गुणस्थान का प्रश्न नहीं है वरन् अनुप्रेक्षा रूप आभ्यन्तर का ही प्रश्न है। अनुप्रेक्षा रूप अभ्यन्तर तप से शुभ त का बन्ध होना ही सम्भव है अतः यह पाठान्तर भी प्रतीत होता है।

इस प्रकार अनुप्रेक्षा से कर्म की अशुभ प्रकृति नष्ट है और अशुभ प्रकृति नष्ट होने के बाद जो शुभ त शेष रहती है वह संसार के बन्धन में उस प्रकार ने वाली नहीं होती, जिस प्रकार अशुभ प्रकृति है। उदा- के लिए—वजन की दृष्टि से लोहे की बेड़ी और सोने बेड़ी समान ही है, पर लोहे की बेड़ी सहज में ड़ी नहीं जा सकती और सोने की बेड़ी जब चाहे तभी ड़ी जा सकती है। लोहे की बेड़ी वाला इच्छा के अनु- र किसी भी जगह नहीं जा सकता, पर सोने की बेड़ीवाला हे जहां जा सकता है और सम्मान प्राप्त कर सकता है। भ प्रकृति और अशुभ प्रकृति में भी ऐसा ही अन्तर है। भ प्रकृति वाला संसार से छूटने का उपाय कर सकता है न्तु अशुभ प्रकृति वाला वैसा नहीं कर सकता।

शास्त्र के कथनानुसार शुभ प्रकृति वाला जीव इस

से शुभ आयु का बन्ध होता है और मुनिजन जो अ
करते हैं वह शुभ परिणाम वाली ही होती है। ऐसी
में यहां आयुष्य का निषेध किस उद्देश्य से किया गया

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनुप्रेक्षा से अ
कर्म का बन्ध कदाचित् होता है और कदाचित् नह
होता। कारण यह है कि आयुष्यमान कर्म एक भव में
बार ही बन्धता है और वह भी अन्तर्मुहूर्त्तकाल में व
है। अगर अनुप्रेक्षा करने वाला संसार में रहता है त
वह अशुभ कर्म नहीं बान्धता है, यदि वह मोक्ष जाता
आयुष्य कर्म का बन्ध ही नहीं करता। इस प्रकार अ
करने वाले को कदाचित् आयुष्य कर्म बन्धता है, क
नहीं बन्धता। इसी कारण यहां आयुष्य कर्म छोड़
गया है।

अनुप्रेक्षा से और क्या लाभ है? इस विषय में
गया है—अनुप्रेक्षा करने वाला असातावेदनीय कर्म का
बार उपचय नहीं करता अर्थात् बार-बार उसका बन्ध
करता। यहां सूत्रपाठ में 'च' अक्षर भी आता है।
इस बात का द्योतक है कि आसातावेदनीय कर्म के स
अन्य अशुभ प्रकृतियां भी अनुप्रेक्षा करने वाला नहीं बांध

यहां पर यह शंका की जा सकती है कि मूलपा
'भुज्जो भुज्जो' अर्थात् बार-बार पद का प्रयोग किस
जन से किया गया है?

इस आशंका का समाधान यह है कि उक्त पद
प्रयोग करने का आशय यह प्रतीत होता है कि प्रमत्त गु
स्थान में वर्त्तमान जीव कदाचित् असातावेदनीय कर्म

करता है, परन्तु वह बार-बार बन्ध नहीं करता है। ... अतिरिक्त पाई टीका के अनुसार यहां यह पाठान्तर है—

**सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणई।**

अर्थात्–अनुप्रेक्षा करने वाला बार-बार सातावेदनीय बान्धता है।

यह पाठान्तर भी ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि यहां तगुणस्थान का प्रश्न नहीं है वरन् अनुप्रेक्षा रूप आभ्यन्तर का ही प्रश्न है। अनुप्रेक्षा रूप अभ्यन्तर तप से शुभ ति का बन्ध होना ही सम्भव है अतः यह पाठान्तर भी प्रतीत होता है।

इस प्रकार अनुप्रेक्षा से कर्म की अशुभ प्रकृति नष्ट ी है और अशुभ प्रकृति नष्ट होने के बाद जो शुभ ति शेष रहती है वह संसार के बन्धन में उस प्रकार ाने वाली नहीं होती, जिस प्रकार अशुभ प्रकृति है। उदा- ा के लिए–वजन की दृष्टि से लोहे की बेड़ी और सोने बेड़ी समान ही है, पर लोहे की बेड़ी सहज में ी नहीं जा सकती और सोने की बेड़ी जब चाहे तभी ी जा सकती है। लोहे की बेड़ी वाला इच्छा के अनु- र किसी भी जगह नहीं जा सकता, पर सोने की बेड़ीवाला हे जहां जा सकता है और सम्मान प्राप्त कर सकता है। प्रकृति और अशुभ प्रकृति में भी ऐसा ही अन्तर है। प्रकृति वाला संसार से छूटने का उपाय कर सकता है न्तु अशुभ प्रकृति वाला वैसा नहीं कर सकता।

शास्त्र के कथनानुसार शुभ प्रकृति वाला जीव इस

अनादि संसार में से निकल सकता है । जीव और
का सम्बन्ध कब से है, इसकी कोई आदि नहीं है
लोगों का कथन है कि जीव मोक्ष तो जाता है पर
मोह के प्रताप से वह वापिस संसार में जन्म धारण
है । जैसे जल निर्मल अवस्था से मलीन अवस्था में
मलीन से निर्मल अवस्था में पहुंच जाता है, उसी
जीव भी मोक्ष में जाता और फिर संसार में आ ज
और फिर मोक्ष चला जाता है । आत्मा मोक्ष में तो
जाता है मगर जब वह अपने शासन की उन्नति और
के शासन की अवनति देखता है तो उसे राग होता है
जब अपने शासन की अवनति तथा दूसरों के शास
उन्नति देखता है तब उसे द्वेष होता है। इस प्रकार
और द्वेष के कारण जीव मोक्ष में से फिर संस
अवतार लेता है ।

यह कथन अत्यन्त अज्ञानपूर्ण है । जो आत्मा
और द्वेष का क्षय होने पर मुक्त हुआ है, उसे फिर
द्वेष नहीं हो सकते और इस कारण वह संसार में
नहीं आ सकता । मोक्ष को प्राप्त कर्म-रजहीन
अगर कर्मरज से लिप्त होकर फिर संसार में आ जा
संसार और जीव का सम्बन्ध आदि हो जायेगा औ
भी कहा जा सकेगा कि अमुक जीव अमुक समय से
रज-सहित है । मगर ऐसा मानना भूलभरा और
है, क्योंकि जो जीव कर्मरज-रहित हो गया है वह फिर
रज-सहित नहीं हो सकता । इस प्रकार आत्मा का
में जाकर फिर संसार में आना युक्तिसंगत नहीं है ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव औ

ग्म्बन्ध अगर अनादिकालीन है तो वह किस प्रकार किया जा सकता है और जीव किस प्रकार निष्कर्म ाकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव और कर्म का ध प्रवाह रूप से अनादि होने पर भी विशेष की अपेक्षा ंद नहीं है। गंगा नदी के किनारे खड़े होकर चार दिन जो जलधारा देखी थी, वही जलधारा चार दिन बाद खी जाये तो वह पहले जैसी ही दिखाई देगी, मगर व में चार दिन पहले जो जलधारा देखी गई थी वह भी की चली गई है। पानी की धारा लगातार बहती है, इसी कारण उसका सम्बन्ध टूटा हुआ मालूम नहीं बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि यह वही जलधारा है ार दिन पहले देखी थी। मगर वस्तुतः वह जलधारा की नहीं है। फिर भी उपचार से कहा जाता है कि वह जलधारा है। वास्तव में जो जलधारा पहले देखी ी वह तो उसी समय चली गई है। वर्त्तमान में तो जलधारा है, जो पहले नहीं देखी गई थी। इसी आत्मा के साथ पहले जिन कर्मों का सम्बन्ध हुआ वे कभी के भोगे जा चुके हैं, मगर नवीन-नवीन कर्म आते और बन्धते रहते हैं, इसी कारण यह कहा जाता जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। शास्त्र थनानुसार कर्म की आदि भी है और अन्त भी है, जीव के साथ कर्म एक के बाद दूसरे लगातार आते हैं। इसी कारण जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि-ीन है।

आशंका की जा सकती है कि कर्म जब लगातार आते

और बन्धते ही रहते हैं तो जीव कर्म-रहित किस प्र
हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि कर्मप्रवाह
रोक देने से जीव कर्मरहित हो जाता है। नदी के ऊप
आने वाले प्रवाह को रोक दिया जाये तो धारा टूट ज
है। उसी प्रकार कर्मप्रवाह को रोक देने से अर्थात् नवं
कर्मों को न आने देने से जीव कर्मरहित हो जाता है।

दूध और घी साथ ही होते हैं। दूध और घी
विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि पहले दूध हुआ
घी। फिर भी क्रिया द्वारा दूध और घी पृथक्-पृथक् ि
जा सकते हैं। इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सक
कि पहले आत्मा या पहले कर्म ? कर्म आत्मा के स
ही है। अनादिकाल से आत्मा कर्मों के साथ और कर्म आ
साथ बद्ध हैं यह कहा जा सकता है। फिर भी प्रयोग द्व
जै दूध में से घी अलग किया जा सकता है, उसी प्र
पुरुषार्थ द्वारा आत्मा और कर्मों का भी पृथक्करण हो सक
है। अरणि की लकड़ी के साथ ही आग उत्पन्न होती
फिर भी उस लकड़ी को घिसने से आग उसमें से बा
निकल जाती है। इसी प्रकार जीव और कर्म के सं
भी आदि नहीं है, तथापि प्रयत्न द्वारा जीव और
प्रथक् किये जा सकते हैं।

शास्त्रकार कर्म को ही दुःख कहते है। श्री भगव
सूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न पूछा है कि
दुखी जीव दुःख का स्पर्श करता है या अदुःखी जीव दु
का स्पर्श करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने क
है—'दुखी जीव ही दुःख का स्पर्श करता है, दुःखरहित ज

ख का स्पर्श नहीं करता ।' यही दुःख का अर्थ कर्म है । र्थात् जिसमें कर्म है वही जीव कर्म का बन्ध करता है, र भले ही वह कर्म शुभ हो या अशुभ हो । शुभ और शुभ दोनों प्रकार के कर्म आत्मा के ऊपर आवरण डालते और दोनों प्रकार के कर्म वस्तुतः दुखरूप ही हैं । अतः र्म को दुःख रूप मानकर आत्मा को कर्महीन करने का यत्न करना चाहिए ।

लोग समझते हैं कि हमें अमुक ने दुःख दिया है या मुक ने मारा है । मगर ज्ञानीजन कहते हैं कि कारण के ना कार्य नहीं हो सकता । इसके साथ ही ज्ञानी पुरुष हते हैं कि तुम दुःख देने या मारने के कार्य का बाह्य ारण तो देखते हो मगर उसका आन्तरिक कारण नहीं खते । तुम यह तो कहते हो कि मुझे रोग हुआ है लेकिन ह क्यों नहीं देखते कि रोग आया कहां से है ? यद्यपि रोग कीटाणु हवा में भी आ सकते हैं तथापि अगर तुम साव- ानी रक्खो और रहन-सहन तथा खानपान वगैरह का यान रक्खो तो रोग ही क्यों हो ? तुम जानते हो कि फलां ीज हानिकारक है फिर भी उसे खाना क्या रोग को आम- त्रण देने के समान नहीं है ? अतः यदि सावधानी रखी जाये ो रोग उत्पन्न ही क्यों हो ? यही बात प्रत्येक कार्य के लिए ागू करो और कर्म के विषय में भी यही देखो कि अगर ावधानी रखी जाये और प्रयत्न किया जाये तो कर्म आये कैसे ? और आत्मा को दुःख हो कैसे ? आत्मा को दुःख न ो इसलिए यह प्रार्थना की गई है—

**श्वासोश्वास विलास भजन को, दृढ़ विश्वास पकड़ रे ।**
**अजपाभ्यास प्रकाश हिये बिच, सो सुमरण जिनवर रे ।।**

भक्त कहते हैं—दुःख से बचने के लिए स्मा
भजन करो । अगर कोई कहे कि मुझे तो समय ही
मिलता, तो फिर भजन किस प्रकार करूं ? ऐसा कहने
को भक्त उत्तर देते हैं परमात्मा का भजन करने के
तुझे समय नहीं मिलता तो न सही । कोई हानि नहीं
क्योंकि इस कार्य के लिए किसी खास अलग आव
आवश्यकता नहीं है । परमात्मा का भजन किस
करना चाहिए, यह सीखने के लिए तो समय की आवश्
रहती है, लेकिन परमात्मा का समरण करने के लिए
खास समय की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है ।
अभ्यास तो श्वासोच्छ्वास की तरह हो जाता है ।
परमात्मा के समरण का अभ्यास श्वासोच्छ्वास लेने
छोड़ने के अभ्यास की तरह स्वाभाविक बन जाये तो
झना चाहिए कि परमात्मा का भजन स्वाभाविक
हो रहा है ।

शास्त्र में कितनेक ऐसे उपाय बतलाये गये हैं
परमात्मा का नाम न लेने पर भी उसका भजन किय
सकता है । अजपाभ्यास हो जाने से परमात्मा का नाम
की भी आवश्यकता नहीं रहती । परमात्मा का नाम न
पर भी परमात्मा का समरण करने के अनेक उपायों
एक उपाय है—प्रामाणिकतापूर्वक अपने कर्त्तव्य का प
करना । प्रामाणिकतापूर्वक कर्त्तव्य का पालन करने से
मात्मा का नाम न लेने पर भी परमात्मा का स्मरण
जाता है मानलो, तुम किसी के नौकर हो ।
स्वामी सदैव तुम्हारे साथ नहीं रहता । फिर भी तुम्हें
मानना चाहिये कि तुम्हारा स्वामी तुम्हारे सामने ही

प्रमाणिकता के साथ काम करना चाहिए। स्वामी ही मेरा काम न देखता हो, मगर परमात्मा मेरा देखता ही है। अतएव मुझे अपने काम में अप्रामाणि-का व्यवहार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अपने य में प्रामाणिकता रखना परमात्मा का नाम लिये बिना रमात्मा के स्मरण करने का और सुखी होने का सरल । है। अगर परमात्मा के भजन के लिए तुम्हें अलग नहीं मिलता तो इसी भांति परमात्मा का स्मरण करो। भी कार्य करते समय यही समझना चाहिए कि पर-ा हमारा कार्य देख रहा है। इस प्रकार समझ कर णिकतापूर्वक कार्य करना भी परमात्मा का स्मरण ही मगर लोग प्रायः ऐसा करते देखे जाते हैं कि ऊपर से रमात्मा का नाम स्मरण करते हैं, मगर कार्य करते मानो परमात्मा को भूल ही जाते हैं। लेकिन यह ा नाम स्मरण नहीं है। अगर परमात्मा को दृष्टि के ने रखकर प्रामाणिकता के साथ कर्त्तव्य का पालन किया तो स्व-पर कल्याण हो सकता है।

अनुप्रेक्षा का अन्तिम फल क्या है, यह बतलाते हुए ान् कहते हैं अनुप्रेक्षा करने से जीवात्मा अनादि, अनन्त, मार्ग वाले अपार चतुर्गतिरूप संसार-अरण्य को शीघ्र ार कर जाता है।

जिसका किनारा दिखाई देता हो उसे पार करना न नहीं है, किन्तु जो अपार है, जिसका किनारा नजर आता उसे पार करना बहुत कठिन है। अब इस बात विचार करो कि जो वस्तु अपार के पार पहुंचा देती

है, वह कैसी होगी ? यहाँ संसार को प्रवाह की अपेक्षा
कहा गया है । यह अपार संसार अनादि है । देव,
तिर्यंच और नरक यह चार गतियां इस अपार सं
चार किनारे हैं । इन चार गति रूप किनारों से संसार
अन्त तो मिलता है, मगर इस संसार-अटवी का मार्ग
लम्बा है कि जीव भ्रम के कारण भूल में पड़ जाता
इस कारण बाहर निकलना उसके लिए कठिन हो जा
फिर भी अनुप्रेक्षा का अवलम्बन लेकर जीव इस
अटवी को भी पार कर सकता है ।

मान लीजिए किसी नगर में जाने का मार्ग
और दुर्गम है । उस मार्ग में बीच-बीच में विश्रा
बने है । ऐसी स्थिति में एक विश्राम-स्थल से दूसरे
स्थल तक, दूसरे से तीसरे विश्राम स्थल तक, इस तर
बढ़ते जाने से विकट और दुर्गम मार्ग भी तय कि
सकता है । लेकिन अगर मार्ग में ही भटक गये-रा
भूल गये और यही पता न चला कि अब किस ओ
है तो नगर में पहुंचना कठिन हो जाता है । ऐसे म
लिए उस नगर का मार्ग विकट और दुर्गम ही है
प्रकार संसार भी अपार है, यद्यपि चार गतियां उस
किनारे हैं और उसे पार भी किया जा सकता है ।
जो भ्रम में पड़कर एक गति से दूसरी गति में ही
रहता है, उसके लिए संसार अपार ही है । नरक
भी पार आता है, मनुष्य गति का भी पार आता है
स्पति काय की लम्बी स्थिति होने पर भी उसका
जाता है । देवगति की स्थिति का भी अन्त है । इस
देव, मनुष्य, नरक और तिर्यंच यह चारों गतियां सं

तो हैं लेकिन उसका मार्ग लम्बा है। इस कारण
ार उसमें पड़ जाता है और इस प्रकार संसार में ही
ााता रहता है। इसी कारण संसार अपार कहलाता
ुप्रेक्षा से यह अपार संसार भी शीघ्रतापूर्वक पार
ा सकता है।

कोई मनुष्य अपार समुद्र में गिर पड़ा है। इसी बीच
ाई नौका मिल जाती है। नौका का मालिक समुद्र
मनुष्य से कहता है—'आ जा, जल्दी कर, इस नौका
ार हो जा।' क्या समुद्र में पड़ा मनुष्य ऐसे समय
करेगा ? अगर वह मनुष्य विचारशील होगा तो
विचार अवश्य करेगा कि जो मनुष्य मुझे नौका पर
ं लिए कह रहा है, वह राग द्वेष से भरा तो नहीं
ौर मुझे किसी राग द्वेष से प्रेरित होकर तो नौका
ने को नहीं कहता ? इस प्रकार विचार करने के
गर उसे खातिरी हो जाये कि वह मनुष्य निस्पृह है,
ास्पृह भाव से ही मुझे नौका पर चढ़ने के लिए कहता
अगर वह बुद्धिमान् है तो नौका पर चढ़ने में विलम्ब
रेगा। बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे अवसर पर नौका का
लिये बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार यह अनादि
भी अपार है। इस अपार संसार को पार करने के
नुप्रेक्षा नौका के समान है। ऐसी अवस्था में संसार
करने के लिए अनुप्रेक्षा रूपी नौका का शरण क्यों
ा जाये ?

अनुप्रेक्षा ऐसी जीवसाधक है, फिर भी संसारिक
की दशा विचित्र ही नजर आती है। लोग दूसरे

सामान्य कार्यों से तो व्यर्थ समय नष्ट करते हैं मगर
रूपी नौका को नहीं अपनाते ।

'यह ऐसी है, वह वैसी है और फलां आदमी है ।' इस प्रकार की अनेक विकथाओं में लोग अपना नष्ट करते हैं । उन्हें यह विचार नहीं आता कि कोई चाहे जैसा हो, कोई स्त्री कैसी भी हो, उसकी निन्दा से हमें क्या लाभ होगा ? दूसरों की बुराई देखने और करने से मुझे क्या लाभ होगा ? मैं यही क्यों न दे मैं कैसा हूं । मुझ में कितने विकार भरे हैं, यह मैं और दूसरों के दोषों की टीका करूं, यह कहां तक है ? दूसरों के दोष न देखकर अपने ही दोषों को दूर में भलाई है ।

बुद्धिमान् पुरुष दूसरे की निन्दा में नहीं पड़ते परमात्मा की शरण लेकर अपनी बुद्धि निर्मल बनाते हैं अपने अवगुण देखकर कहते हैं—

हे प्रभु ! मेरा ही सब दोष,
थोलसिन्धु कृपालुनाथ अनाथ आरतपोष ।। हे प्र

अर्थात् प्रभो ! सारा दोष मेरा ही है, और का नहीं । इस प्रकार भक्तजन अपना ही दोष मानते इसी तरह तुम भी अगर परमात्मा की शरण ग्रहण अपनी बुद्धि निर्मल बनाओ तो तुम्हें भी यह जान कि सारा दोष मेरा ही है । अगर तुम्हारा कोई दुःखी हो तो इसमें तुम्हारा दोष है या नहीं ? दुःखी होने में तुम्हारा पाप भी कारण हो सकता है ।

थनानुसार इष्ट गन्ध, इष्ट रूप आदि पुण्य के प्रभाव
ाप्त होते हैं। तुम इष्ट गन्ध वगैरह चाहते हो तो
वस्तु की ओर क्यों नहीं देखते ? तुम यह क्यों नहीं
ऽते कि अगर मेरा पुण्य प्रबल होता तो मुझे दुखी पड़ौसी
मिलता ? अतएव यदि पड़ौसी दुखी है तो यह मेरा ही
है। तुम्हारा पुण्य और तुम्हारा पाप दूर-दूर तक काम
ा है। शास्त्र में कहा गया है कि लवणसमुद्र की बेलाएं
ह हजार डनमाला के ऊपर चढ़ती हैं। उन्हें अगर दबा
ाया जाये तो गजब हो जाये ! परन्तु बयालीस हजार
जम्बूद्वीप की तरफ से साठ हजार देव ऊपर से और
ार हजार देव धातकीखण्ड की ओर से उन समुद्र वेलाओं
दबाये रखते हैं। इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी ने
ान् से प्रश्न किया है—हे भगवान् ! क्या वह समुद्रवेला
के दबाने से दब जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर में
ान् ने कहा 'देव तो अपना कर्त्तव्य पालते हैं। वास्तव
ामुद्रवेला देवों के दबाने से दबती नहीं है। समुद्रवेला
जम्बूदीप और धातकीखण्ड में रहने वाले अरिहंतों, चक्र-
यों, वासुदेवों बलदेवों साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका
् सम्यग्दृष्टि जीवों के पुण्य-कार्य से दबी रहती है।' इस
र तुम्हारा पुण्य वहां भी कार्य कर रहा है। अतएव
ना चाहिए कि मेरी पुण्यकरणी के फल का प्रभाव दूसरी
ह और दूसरों पर भी पड़ता है। इसलिए मुझे खराब
ा नहीं करना चाहिए, अच्छी करणी करते रहना चाहिए।
दूसरों के दोष न देखकर अपने ही दोष देखना चाहिए,
ः दूसरों की निन्दा का त्याग करके अनुप्रेक्षा करना, जिससे
विकट संसार-अटवी का अन्त किया जा सके।

अगर कोई व्यक्ति शास्त्र की अनुप्रेक्षा कर
तो अच्छी ही है, लेकिन जो शास्त्र नहीं जानते
मात्मा का नाम स्मरण करने रूप अनुप्रेक्षा करनी
जो कुछ भी किया जाये, शुद्ध हृदय से करना चा
ऐसा नहीं होना चाहिए कि—

**वेश वहन विराग मन अघ, अवगुणों का कोष।**
**प्रभु प्रीति प्रतीति पोली, कपट करतब ठोस ॥ है**

अर्थात्—वेष में और वचन में वैराग्य वि
जाये और मन में पाप रहे तो वह अनुप्रेक्षा किसी
नहीं रहती परमात्मा के वचन पर विश्वास न कर
झूठ-कपट पर विश्वास करना अनुप्रेक्षा नहीं, क
अनुप्रेक्षा करने में किसी प्रकार की दुर्भावना या स
कामना नहीं होनी चाहिए। संसार में रहकर स
करने वाला व्यक्ति संसार का उपकार करता है औ
लय की गुफा मे बैठकर भी असद्विचार करने वा
न केवल अपना ही वरन् संसार का भी अहित क
अतएव दूसरों की निन्दा करना छोड़कर अपने वि
देखो और परमात्मा की प्रार्थना द्वारा उन्हें दूर कर
बनो। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा।

कहने का आशय यह है कि अनुप्रेक्षा से आ
गति रूप संसार को पार कर सकता है, अतः अ
को अनुप्रेक्षा करने में पिरो दो। तुम कह सकते
चित्त बड़ा चंचल है, इसे अनुप्रेक्षा में किस प्रकार
जाये? इसका उत्तर यह है कि चित्त तो चंचल
था और चंचल रहेगा, परन्तु योग की क्रिया द्वार

भी स्थिर किया जा सकता है । योग की क्रिया द्वारा स्थिर करके अनुप्रेक्षा करोगे तो बहुत लाभ होगा । इतना न बन सके तो कम से कम इतना अवश्य करो चित्त को बुरी बातों की ओर मत जाने दो । अगर को इतना भी काबू में रखने की सावधानी रखोगे तो बहुत कुछ कल्याण कर सकोगे । जब बालक पैरों से ना सीख लेता है तब उसे एक जगह बैठने ने लिए कहा तो वह नहीं बैठ सकता । वह इधर-उधर फिरता ा है । अतएव इस बात की सावधानी रखनी पड़ती है बालक कहीं गड़हे में न गिर जाये । मन को भी नन्हे ालक के समान ही समझो । योग क्रिया के बिना मन ा नहीं जा सकता, अतः इस पर सद्गुरु के वचनों का ा रखो जिससे यह खराब कामों की तरफ न चला । बालक कुसंगति में जाता हो तो रोकना पड़ता है । प्रकार यह मन खराब संगति में न चला जाये, इस की खास सावधानी रखनी उचित है । कितने-कितने सहने के बाद यह मन मिला है ! और उसमें भी यग्दृष्टि तथा श्रावक के मन का कितना अधिक महत्व । इस पर विचार करो । बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के बाद ना हुआ मन कहीं बुरे काम की ओर न चला जाये, इस र की कितनी चिन्ता रखनी चाहिए ? किसी बड़े आदमी लड़का कुसंगति में पड़ जाता है तो उसके लिए कितनी न्ता की जाती है ! इसी प्रकार तुम भी अपने मन को ाई की ओर न जाने देने की चिन्ता रखो । अगर मन को बू में कर लिया तो आत्मकल्याण साधने में देर न लगेगी ।



# तेईसवां बोल

## धर्मकथा

पिछले प्रकरण में अनुप्रेक्षा पर विचार किया है। यहां धर्मकथा के सम्बन्ध में विचार करना है। प्रेक्षा करने वाला ही धर्म का उपदेश दे सकता है। समझते हैं, धर्मोपदेश देना सरल काम है मगर दर यह बड़ा कठिन काम है। धर्मोपदेश द्वारा लोगों की पर भी लाया जा सकता है और कुमार्ग पर भी घसीटा सकता है। गांधीजी ने अपने एक लेख में 'हिन्दू-धर्म उपदेश कौन दे सकता है' इस विषय में अपने विचार किये थे। गाँधीजी के विचार बतलाने से पहले यह ना आवश्यक है कि इस विषय में शास्त्र क्या कहता श्रीसूयगडांग के ग्यारहवें अध्ययन में कहा है—

> आयगुत्ते सया दंते छिन्नासोए अणासवे।
> ते सुद्धधम्मावखंति पडिपुण्ण मणेलिसं॥

भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि जिस में वीतराग देव नहीं होते, उस काल में उनके मार्ग उपदेश देने का अधिकारी कौन है? इस प्रश्न के में भगवान् ने कहा–अपनी आत्मा को गुप्त रखने वा क्षमावान्; इन्द्रियों का दमन करने वाला और निरा पुरुष ही वीतराग के मार्ग का उपदेश दे सकता है। जो न करता हो, असत्य भाषण न करता हो, किसी की जैसी तुच्छ चीज भी विना आज्ञा न लेता हो, स्त्री मात्र माता के समान समझता हो और जो धर्मोपकरणों पर,

ह अपने शरीर पर भी ममत्व न रखता हो वही व्यक्ति र्म का उपदेश दे सकता है।

धर्म का उपदेश कौन दे सकता है, इस विषय में न् महावीर का कथन बतलाया जा चुका। अब यह है कि इस सम्बन्ध में गाँधीजी क्या कहते हैं? गाँधी अपने लेख में लिखा था कि हिन्दूधर्म का उपदेश न ड़-बड़े विद्वान् ही दे सकते हैं और न शंकराचार्य ही कता हैं। हिन्दूधर्म का उपदेश देने का अधिकारी वही हिंसा न करता हो असत्य न बोलता हो तथा जो मैथुन और परिग्रह वगैरह दुर्गुणों से बचा हुआ हो।

इस प्रकार धर्मकथा करना अर्थात् धर्मोपदेश देना सरल काम नहीं है मगर आज तो धर्मोपदेश बोलने ाए तत्पर ही रहते हैं, चाहे वो धर्मोपदेश देने के अधि- हो या न हों। शास्त्र कहता है—धर्मोपदेश देने से वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना और अनुप्रेक्षा इन चार का सिद्ध कर लेना आवश्यक है। इन्हें सिद्ध कर लेने ही धर्मोपदेश दे सकता है। वाचना आदि चार बातों सेद्ध किये बिना जो उपदेश दिया जाता है वह लोगों दय पर सच्चा प्रभाव डालने के बदले उल्टा असर डाल ा है। शास्त्र में धर्मकथा सम्बन्धी प्रश्न उक्त चार बातों ाद इसी कारण रखा गया है। जिसमें वाचना, पृच्छना, ार्त्तना और अनुप्रेक्षा—यह चार बातें हों वही धर्मकथा सकता है। इस धर्मकथा के विषय में भगवान् से यह किया गया है—

## मूलपाठ

प्रश्न—धम्मकहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

**उत्तर—धम्मकहाए णं णिज्जरं जणयइ, णं पवयण पभावेइ, पवयणपभावेणं जीवे आगमेसस्स कम्मं निबंधइ ?**

## शब्दार्थ

प्रश्न—भगवान् ! धर्मकथा करने से जीव को लाभ होता है ?

उत्तर—धर्मकथा से निर्जरा होती है और जिन वान् के प्रवचन की प्रभावना होती है । व अ जीव भविष्यकाल में शुभ कर्म का बन्ध करता है ।

## व्याख्यान

धर्मकथा करने से जीव को क्या लाभ होता है? प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने पहली बात तो यह क कि धर्मकथा करने वाले के कर्मों की निर्जरा होती धर्मकथा करने वाला किसी भी प्रकार के प्रलोभन पड़कर यही समझे कि धर्मकथा के द्वारा मैं अपने कर्म निर्जरा कर रहा हूं ।

स्त्रियां अपने घर का कचरा साफ करती हैं । इसके वदले वे किसी से पैसा मांगती हैं ? माता संतान की सेवा करती है, पर क्या वह संतान से वद कुछ मांगती है ? अपने घर का कचरा साफ करने स्त्री और अपनी संतान की सेवा करने वाली माता प्रकार का वदला नहीं मांगती । इसका कारण यह है वे उस कार्य को अपना ही कार्य समझती हैं । जब

अपना कार्य समझ कर किसी प्रकार का बदला नहीं
तो तो यह कैसे उचित कहा जा सकता है कि साधु
था करने का बदला चाहे? साधु को समझना चाहिए
जो कुछ भी कर रहा हूं, वह सब आत्मा का कचरा
करने के लिए ही कर रहा हूं अतएव मुझे अपने
का बदला माँगना या चाहना किसी भी प्रकार उचित
है। इतना ही नहीं, वरन् वाह-वाह की भी इच्छा
नहीं करना चाहिए। साधु को निर्जरा के निमित ही
कार्य करना चाहिए। घर का कचरा साफ करने वाली
यह नहीं सोचती कि मैं किसी पर एहसान या उपकार
रही हूं। इसी प्रकार साधु को भी धर्मकथा करके
ान नहीं करना चाहिए, न अभिमान ही करना चाहिए।
प्रकार साधु को इस बात से दुःखी भी नहीं होना चाहिए
मेरी बात कोई मानता नहीं है या सुनता नहीं है।

कहने का आशय यह है कि जब अपनी आत्मा को
त्र बना लिया जाये तभी धर्मकथा की जा सकती है।
बात का उपदेश देना हो, उसके लिए पहले साधु को
ही सावधान होना चाहिए कि मेरी बात कोई माने
न माने, पर मुझे तो इससे लाभ ही होगा! उदाहर-
र्थ जो साधु या साध्वी स्वयं रेशमी वस्त्र पहनेगा वह
रों को उसके त्याग का उपदेख किस प्रकार दे सकेगा?
धु को सिर्फ लज्जा की रक्षा के लिए शास्त्रविहित और
रमित वस्त्र रखना चाहिए। उन्हें ऐसे वस्त्रों का उपयोग
ीं करना चाहिए जो मोह उत्पन्न करे अर्थात् कीमती या
दर हों। हम में अभी तक वस्त्रों का सर्वथा त्याग कर
की शक्ति नहीं आई है, अतएव हमें वस्त्र पहनने पड़ते

हैं, परन्तु वे वस्त्र इतने सादे होने चाहिए कि फैशन के भी उत्पन्न न हों और मोह भी न उत्पन्न हो।

मतलब यह है कि साधुओं को इस बात का नहीं मानना चाहिए कि हमारा उपदेश कोई मानता या सुनता नहीं। उन्हें केवल यही सोचना चाहिए कि उपदेश कोई माने या न माने अगर मैं स्वयंमेव अपने के अनुसार बर्ताव करूंगा तो मेरा कल्याण ही होगा

धर्मकथा किसे कहते हैं ? और धर्मकथा के भेद हैं ? इस विषय में श्रीस्थानांगसूत्र में विस्तारपूर्वक किया गया है। मगर उस सारे वर्णन का सार यही धर्मकथा में धर्म की ही बात होनी चाहिए, दूसरी कोई नहीं होनी चाहिए। धर्मकथा करते समय कभी-कभी राजा या राज्य की बात भी चल पड़ती है लेकिन यह बातें धर्म की सिद्धि के लिए ही होनी चाहिए। धर्म में ऐसा कोई भी वर्णन नहीं आना चाहिए जिससे वृद्धि हो। मोह की वृद्धि करने वाली कथा धर्मकथा वरन् मोहकथा है।

आजकल धर्मकथा के नाम पर ऐसे-ऐसे रास जाते हैं कि उन्हें सुनकर श्रोता और अधिक मोह में जाते हैं। इस प्रकार मोहपोषक रासों का गाना धर्म किस प्रकार कहा जा सकता है ? धर्मकथा वही है, सुनकर मोह उत्पन्न न हो, बल्कि धर्मभावना ही उत्पन्न किसी वस्तु का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरु भी हो सकता है। इसी प्रकार उपदेश द्वारा धर्मभा पुष्ट करने वाली धर्मकथा भी कही जाती है और मोह उ

{नेवाली मोहकथा भी कही जा सकती है। मगर सच्ची
{कथा तो वही है जो धर्मभावना को ही बढ़ाती हो।

भगवान् से पूछा गया है कि धर्मकथा करने से किस
{ल की प्राप्ति होती है ? प्रत्येक कार्य की अच्छाई-बुराई
{ निर्णय उसके अच्छे या बुरे फल को देखकर ही किया
{ता है। फल अच्छा हो तो वह कार्य भी अच्छा माना
{ता है और यदि फल अच्छा न हो तो कार्य भी अच्छा
{हीं माना जाता। अब यहां यह देखना है कि धर्मकथा का
{ल कैसा मिलता है ? धर्मकथा का एक फल भगवान् ने
{र्जरा होना बतलाया है। अतः जिससे निर्जरा हो वह
{र्मकथा है और जिससे निर्जरा न हो वह धर्मकथा भी
{हीं है।

यहां निर्जरा का अभिप्राय कर्म की निर्जरा होना है।
{र्मकथा से कर्मों की निर्जरा हुई है या नहीं, इसकी पहचान
{वकारों का दूर होना है। अगर विकार दूर हो और चित्त
{ो शान्ति प्राप्त हो तो समझना चाहिए कि हमने धर्मकथा
{ी है। ऐसा न हो तो वह धर्मकथा ही नहीं। जिससे
{यास बुझे वही पानी है, जिससे भूख मिटे वही भोजन है।
{सी प्रकार अगर चित्त के विकार दूर हों और शान्ति प्राप्त
{ो तो समझना चाहिए कि हमारे कर्मों की निर्जरा हो रही
{ और जिससे कर्मों की निर्जरा हो वही धर्मकथा है।

धर्मकथा से चित्त के विकार दूर होते हैं और चित्त
को शान्ति मिलती है। इस कारण सबसे पहले यह देख
लेने की आवश्यकता है कि अपने विकार कौन-से हैं ? डॉक्टर
रोगी को दवा देने से पहले रोग का निदान करता है।

जब तक रोग का निदान न किया जाये तब तक दवा दी जा सकती है ? इसी तरह जब तक विकारों का प० लगा लिया जाये तब तक यह बात कैसे जानी जा है कि धर्मकथा सुनने से विकार दूर हुए हैं या नहीं ? कारण सर्वप्रथम अपने विकारों को जान लेने की आव है। विकारों में सबसे बडा विकार मोह है। मोह विकारों का बीज है। उसी से दूसरे विकार उत्पन्न हैं। फिर भले ही वह मोह काम का हो या क्रोध का लोभ का हो या दूसरे प्रकार का हो। मगर विकारों राजा मोह ही है। जिसे सुनने से मोह में कमी न हो, धर्मकथा है, और जिसे सुनने से मोह में कमी न हो, ब मोह उलटा बढ़ जाये, वह धर्मकथा नहीं, मोहकथा है।

तुम व्याख्यान सुनने के लिए प्रतिदिन आते हो मगर यह देखो कि क्या तुमने धर्मकथा सुनी है ? सुनी है तो क्या तुम्हारे विकार मिटे या कम हुए हैं ? नहीं, तो यही कहा जा सकता है कि या तो धर्म सुनने वालों में कोई खामी है या सुनाने वाले में कमी है। मैं अपने सम्बन्ध में तो यही मानता हूं खामी मुझ में ही है। भगवान् का उपदेश सुनकर शेर और बकरी भी आपस का वैरभाव छोड़ देते थे तुम लोग मेरा उपदेश सुनकर अगर वैरभाव नहीं तो इसमें मेरी ही कमी समझनी चाहिए। मुझे अपनी खा दूर करना चाहिए। अगर तुम अपनी खामी मानते हो तो तुम्हें भी उसे दूर करना चाहिए। मेरा व्याख्यान और तुम्हारा व्याख्यान सुनना कर्म की निर्जरा के लिए होना चाहिए। इस प्रकार धर्मकथा का एक फल तो कर्म की निर्जरा होना है।

धर्मकथा का दूसरा फल क्या है ? इस सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं—जो धर्मकथा करता है वह प्रवचन की प्रभावना करता है ।

वचन और प्रवचन में बहुत अन्तर है। वचन साधारण होता है और प्रवचन में दूसरों की लाभ हानि समाई होती है। उदाहरणार्थ एक न्यायाधीश अपने घर पर घर के लोगों से बात-चीत करता है और वही न्यायाधीश न्यायालय में न्याय आसन पर बैठकर न्याय करता है। इन दोनों प्रकार की बातों में कितना अन्तर है ? घर की बातों से किसी को वैसा लाभ-हानि नहीं, मगर न्यायालय में बैठकर न्याय देने में दूसरों का लाभ और अलाभ होता है। वचन और प्रवचन में भी इतना ही अन्तर है। साधारण बातचीत को वचन कहते हैं और जिस वचन में दूसरों का लाभ-अलाभ हो उसे प्रवचन कहते हैं। दूसरों के प्रवचन से तो हानि भी हो सकती है मगर वीतराग के प्रवचन से एकान्त लाभ ही लाभ है। इस प्रकार के प्रवचन की उपेक्षा करना भारी भूल है। इसी भूल के कारण जीव अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रहा है। इस प्रकार की भूल करना मोह का ही प्रताप है।

न्याय करते समय अंधेरा हो जाये तो न्यायाधीश को प्रकाश की सहायता लेनी पड़ती है, इसी प्रकार निर्ग्रन्थ, प्रवचन तो है मगर उसे प्रकाशित करने वाले महात्मा ही हैं। जो धर्मकथा करता है अर्थात् धर्मदेशना देता है उसके लिए भगवान् ने कहा है कि वह प्रवचन की आराधना करता है। प्रवचन की आराधना करने वाला इस काल में भी भद्र अर्थात् कल्याणकारी फल प्राप्त करता है और आगामी काल

में भी कल्याणकारी फल प्राप्त करता है ।

धर्मकथा करते समय धर्मोपदेशक को यह ख्याल र चाहिए कि धर्मकथा के द्वारा मुझे प्रवचन की सेवा है । मुझे धर्मकथा को लोकरंजन का साधन नहीं बनाना इसी भावना के साथ धर्मकथा करनी चाहिए ।

संयोगवश आज ज्ञानपंचमी का दिन है । यह ज्ञान की आराधना करने का है । शास्त्र में कहा है—

**पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।**
**अन्नाणी किं काही, किं वा नाही य सेय पावगं ॥**

—दशवैकालिकसूत्र

अर्थात्–पहले ज्ञान की आवश्यकता है और आवश्यक है । दया श्रेष्ठ है पर ज्ञान के बिना नहीं हो सकती । दया के लिए ज्ञान होना आवश्यक है वही दया श्रेष्ठ है जो ज्ञानपूर्वक की जाती है । इसी ज्ञान भी वही श्रेष्ठ है जिससे दया का आविर्भाव होता ज्ञान और दया का सम्बन्ध वृक्ष और उसके फल के स के समान है । ज्ञान वृक्ष है तो दया उसका फल है । ज्ञा रहित दया और दयारहित ज्ञान सार्थक नहीं है ।

क्रियात्मक ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है । व्यवहार में क्रियात्मक ज्ञान की आवश्यकता है और आध्यात्म में भी जब व्यवहार में भी सक्रिय ज्ञान उपयोगी होता है तो धर्म के मार्ग में सक्रिय ज्ञान की आवश्यकता नहीं होगी अतएव धर्ममार्ग में भी सक्रिय ज्ञान होना आवश्यक है ।

आज धार्मिक क्षेत्र में ज्ञान की कमी नजर आती है

बालक श्रावक-कुल में जन्मे हैं और उन्होंने व्याव-
ज्ञान प्राप्त किया है फिर भी अगर उन्होंने धार्मिक
का उपार्जन न किया अर्थात् जीव-अजीव का भेद भी
ना तो ज्ञान की कितनी त्रुटि समझनी चाहिए ? तुम
करो तो अपने बालकों के व्यावहारिक ज्ञान को ही
ात्मिक ज्ञान में परिणत कर सकते हो । आत्मा का
ण केवल व्यवहारिक ज्ञान से नहीं हो सकता । आत्म-
रण के लिए आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता है ।
व तुम अपने बालकों को अगर शान्ति देना चाहते हो
न्हें आध्यात्मिक ज्ञान देना चाहिए । यह बात दूसरी
आज पहले के समान आध्यात्मिक ज्ञान न दिया जा
ा हो या उसकी आवश्यकता न समझी जाती हो, मगर
के अनुसार आध्यात्मिक ज्ञान तो देना ही चाहिए ।
ा अपना कल्याण आध्यात्मिक ज्ञान से ही कर सकता
आध्यात्मिक ज्ञान से ही आत्मा कल्याण साधता है,
ा है और साधेगा । अतः सक्रिय ज्ञान की आराधना
। इसी में कल्याण है । ज्ञानपंचमी की आराधना शास्त्र
रूप देने से नहीं होती । ज्ञानोपार्जन करना और उपा-
ज्ञान को सक्रिय रूप देना ही ज्ञानपंचमी की सच्ची
ाधना है । ज्ञान की आराधना द्वारा ज्ञानपंचमी की
ाधना करने में ही आत्मकल्याण है । ज्ञान आत्मा का
श है । यह प्रकाश जितना अधिक प्रकाशित करोगे,
मा उतना ही अधिक प्रकाशित होगा ।

धर्मदेशना का फल प्रकट करते हुए आगे कहा गया है—

जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ ।

अर्थात्–धर्मदेशना देने से जीव को आगामी प्राप्त होने वाला कल्याण प्राप्त होता है। अर्थात् धर्म से भविष्य में कल्याण होता है।

ऊपर के पाठ में 'भद्दत्ता' शब्द आया है। 'भद्दत्ता' के बदले 'भद्द' शब्द ही लिखा गया हो क्या हर्ज था ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए गया है–व्याकरण के नियमानुसार यह भाववाची शब्द उसे भाषासौन्दर्य के लिए भाववाचक प्रत्यय लगा गया है।

आने वाला काल आगामीकाल कहलाता है। जो आगामीकाल है वह वर्तमान में आता है। आगामी की कभी समाप्ति नहीं होती इस प्रकार भी आगामीकाल कहा जाता है। धर्मदेशना देने से आगामी में आत्मा का कल्याण होता है।

जैसे काल का अन्त नहीं है, वैसे ही आत्मा का अन्त नहीं है। यह बात जानते हुए भी दो दिन वाली चीज के लिए तो प्रयत्न करना और जिसका अन्त नहीं, उस आत्मा के लिए कुछ भी प्रयत्न न कितनी गम्भीर भूल है ? कहा जा सकता है कि आ लिए हमें क्या करना चाहिए। इसका समाधान यह है शास्त्रों में कहा है—'सव्वे जीवा सुहमिच्छन्ति।' सभी जीव सुख चाहते हैं यह मानकर सब जीवों का करो। कोई भी काम ऐसा न करो जिससे किसी जीव अकल्याण हो।

संसार का प्रत्येक पदार्थ, जो एक प्रकार से क

ं माना जाता है, दूसरे प्रकार से अकल्याणकारी साबित
है। मगर धर्मदेशना एक ऐसी वस्तु है जो एकान्तः
ाणकारिणी है। अतएव सांसारिक पदार्थों के मोह में
ड़ते हुए धर्मदेशना को अपनाओ और जीवन में उतार
आत्मा का कल्याण साधो।

धर्मदेशना का फल बतलाते हुए जो कुछ कहा गया
ुसमें 'अनवरत' शब्द आया है। अनवरत का अर्थ—
न्तर' है। अतः यहां यह कहा गया है कि धर्मदेशना
नरन्तर कल्याणरूप कर्म का बन्ध होता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि किये हुए कर्म तो भोगने
ाड़ते हैं, फिर यहां निरन्तर शब्द का प्रयोग क्यों किया
है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव पुण्यानुबन्धी
बान्धता है और उसका ज्यों ही अन्त आता है त्यों ही
: पुण्यानुबन्धी कर्म का बन्ध हो जाता है। इस प्रकार
ाशना से जीव निरन्तर भद्र कल्याणकारी कर्म का बन्ध
ता है। इसी कारण यहां निरन्तर (अनवरत) शब्द का
ग किया गया है। जैसे मुर्गी और उसके अण्डे में से
ो को पहले नहीं कह सकते। दोनों का अविनाभाव
न्ध है। अर्थात् उसमें यह क्रम नहीं है कि पहले मुर्गी,
 अंडा या पहले अंडा फिर मुर्गी। दोनों में अविनाभाव
न्ध है। इसी प्रकार धर्मदेशना से पुण्यानुबन्धी कर्म का
 होता रहता है जिससे कि एक से दूसरे पुण्य का क्रम
ता रहता है। पुण्य से पुण्य होने में अन्तर नहीं पड़ता।
एक दीपक से दूसरा दीपक और दूसरे दीपक से तीसरा
ट होता है, उसी प्रकार एक पुण्यानुबन्धी से दूसरा और

दूसरे पुण्यानुबन्धी से तीसरा पुन्यानुबन्धी कर्म का ब
ही रहता है। उसमें अन्तर नहीं पड़ता। इसलिए
गया है कि धर्मदेशना से निरन्तर पुण्यानुबन्धी पु
बन्ध होता है।

यहां एक प्रश्न और उपस्थित होता है वह य
धर्मदेशना से यदि निर्जरा होती है तो फिर शुभानुब
का मिलना क्यों कहा गया है? इस प्रश्न का समाध
है कि धर्मदेशना से निर्जरा भी होती है और शुभ
बन्ध भी होता है। अर्थात् जो कर्म निर्जीर्ण हो
उन कर्मों में किसी प्रकार का बन्ध नहीं होता, पर
शेष रहते हैं, उनमें शुभ कर्मों का ही बन्ध हो
इस प्रकार धर्मदेशना का फल निर्जरा होने के साथ
कर्मों का बन्ध होना भी है।

वाचना, पृच्छना परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा और
यह स्वाध्याय के पांच भेद हैं। पांच प्रकार के स्वा
सूत्र की आराधना होती है। सूत्र की आराधना के
में अगले बोल में विचार किया जायेगा।



# चौवीसवां बोल

## श्रुत की आराधना

पहले बतलाया जा चुका है कि पांच प्रकार
ध्याय करने से श्रुत की आराधना होती है। यहां

धना पर विचार किया जाता है ।

## मूलपाठ

**प्रश्न—सुयस्स आराहणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?**

**उत्तर—सुयस्स आराहणाए णं अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ ।**

## शब्दार्थ

प्रश्न—भगवान् ! श्रुत की आराधना से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—श्रुत की आराधना से अज्ञान दूर होता है और उससे जीव को संक्लेश नहीं होता ?

## व्याख्यान

शास्त्र का सम्यक् प्रकार से सेवन करना श्रुत की आराधना है । वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा इस प्रकार पांच तरह का स्वाध्याय करने से सूत्र की आराधना होती है और सूत्र की आराधना से अज्ञान नष्ट होता है । जिस वस्तु का पहले ज्ञान नहीं होता, सूत्र की आराधना से उस का ज्ञान हो जाता है । किसी बात का ज्ञान न होना उसका अज्ञान है । सूत्र की आराधना से इस प्रकार का अज्ञान दूर हो जाता है । अज्ञान का नाश होता है, इस का प्रमाण यह है कि सूत्र की आराधना से विशिष्ट बोध उत्पन्न होता है । भगवान् कहते हैं–इस

प्रकार की सूत्र आराधना से एक तो अज्ञान का नाश
है और दूसरे संक्लेश उत्पन्न नहीं होता। तत्त्वज्ञान हो
राग-द्वेष रूप संक्लेश टिक भी नहीं सकता।

यों तो संसार असार कहलाता है पर ज्ञानीजन असार कहे जाने वाले संसार में से ही सम्यक् सार निकालते हैं। अगर संसार एकान्त रूप से असार और उसमें किंचित् भी सार न होता तो जीव मोक्ष प्राप्त कर पाते ? सूत्र की आराधना करने से अज्ञान होता है और अज्ञान के नाश से संसार में से सार नि जा सकता है। इस प्रकार तत्त्व का बोध होने से प्रकार का संक्लेश नहीं होता और संक्लेश न होने से वै की उत्पत्ति होती है। अज्ञान का नाश होना, तत्त्व का होना, संक्लेश पैदा न होना और वैराग्य की उत्पत्ति यह सब सूत्र की आराधना का ही फल है। सूत्र की आर का फल बतलाते हुए एक संग्रहगाथा में कहा गया है-

जह जह सुयमवगाहइ अइसयरससंजुयमपुव्वं।
तह तह पल्हाइ मुणी नव नव संवेगसद्धाए ॥

अर्थात्—मुनि ज्यों-ज्यों श्रुत में अवगाहन करता है, त्यों-त्यों उस मुनि को संवेग श्रद्धा से अपूर्व-अपूर्व आ प्राप्त होता है।

श्रुत की सूत्र से, अर्थ से सूत्रार्थ से ज्यों-ज्यों आरा की जाती है त्यों-त्यों अपूर्व भावों की उत्पत्ति होती श्री भगवतीसूत्र का अनेक महात्माओं ने अनेक बार अध्य किया पर अन्त में उन्हें यही कहना पड़ा कि—हे भगव मैं तुझमें ज्यों-ज्यों अवगाहन करता हूं, त्यों-त्यों

ऐं ही भाव मालूम होता है, इसलिए मैं तुझे नमस्कार
ता हूँ।'

श्रुत की आराधना करने से नवीन-नवीन भाव किस
ार प्रकट होता है; यह बात यों समझो मानलो, तुम
ी समुद्र के किनारे फिरने गये हो। समुद्र के किनारे
ी हवा बह रही है। तुम समुद्र के जितने नजदीक
ओगे, उतनी ही अधिक ठण्डी हवा मालूम होगी। अगर
द्र में स्नान करने के लिए घुसोगे तो और अधिक
ड लगेगी। कदाचित् तुमने समुद्र में गहरा गोता लगाया
वह गहरा मालूम होगा, अधिक ठण्ड भी मालूम होगी
सम्भव है समुद्र की गहराई में से तुम्हें किसी वस्तु की
प्ति भी हो जाय! मोती तो गहरे पानी में डुबकी मारने
ही मिलते हैं। इसी प्रकार जो पुरुष सूत्ररूपी समुद्र के
तना सन्निकट जाएगा, उसे उतना ही अधिक लाभ होगा।
श्रुत समुद्र में डुबकी मारेगा उसे तो तत्त्व रूपी मोती
अधिकाधिक प्राप्त होंगे।

तुमनें दूसरे अनेक रसों का आस्वादन किया होगा
ार एक बार शास्त्रों के रस को भी तो चख देखो!
स्त्र का रस कैसा है? शास्त्र का रस चखने के बाद तुम्हें
ार के सभी रस फीके जान पड़ेंगे। शास्त्र को ऊपर-
र से मत देखो। अगर कोई पुरुष मुंह में मोती डालकर
सका मिठास चखना चाहे तो उसे क्या उचित कहा
येगा? और चखने पर जिस मोती में मिठास मालूम हो
ह सच्चा है? नहीं। इसी प्रकार सूत्ररूपी मोती को ऊपर-
पर से मत चखो। सूत्र सुनकर उसे अपने जीवन में उतारो

तो तुम्हारा मानव-जीवन सार्थक हो जायेगा। सू
आराधना करने से आत्मा का कल्याण अवश्य होता है
की आराधना करना मानव-जीवन को सार्थक करने
जड़ी बूटी है अतः सूत्र की आराधना करके जीवन
करोगे तो कल्याण होगा।

रागादि भाव के कारण आत्मा में किस प्रकार सं
उत्पन्न होता है, यह बात सरल करके समझाता हूं।
पुरुष जिस वस्तु को अपना समझता है, उसे उसके
राग रहता है। इस अवस्था में अगर उस वस्तु को
छीन ले या उसे हानि पहुंचाए तो ऐसा करने वाले के
द्वेष उत्पन्न होता है। अगर किसी भी वस्तु को अपनी
मानी हो तो उसके प्रति राग भी न होगा और उसे छी
या नष्ट करने वाले पर द्वेष भी न होगा। इस प्रकार
द्वेष न होने के कारण संक्लेश भी उत्पन्न न होगा।
में जब आत्मीयता का भाव उत्पन्न होता है तभी
कारण राग-द्वेष होता है। राग-द्वेष होने से आत्मा
संक्लेश होना स्वाभाविक है। श्रुत की आराधना कर
वस्तु सम्बन्धी राग-द्वेष मूलक मोह नष्ट हो जाता है
राग-द्वेष नष्ट हो जाने से आत्मा को संक्लेश नहीं
बल्कि वैराग्य पैदा होता है। इस प्रकार सूत्र की आर
का महत्व बहुत अधिक है।



# पच्चीसवां बोल

## मानसिक एकाग्रता

शास्त्र का कथन है कि सूत्र की आराधना के लिए का एकाग्र होना आवश्यक है। जब तक मन एकाग्र ों होता तब तक सूत्र की आराधना नहीं हो सकती। एव मन की एकाग्रता के विषय में भगवान से प्रश्न किया ा है। मूलपाठ इस प्रकार है—

### मूलपाठ

प्रश्न—पगग्गमणसंनिवेसणयाए णं भंते ! जीवे किं ायइ ?

उत्तर—एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ।

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवान् ! मन को एकाग्र करने से जीव को ा लाभ होता है ?

उत्तर—मन को एकाग्र करने से जीव चित्त का निरोध ता है।

### व्याख्यान

मन की एकाग्रता के विषय में विचार करने के लिए न क्या है यह जान लेना आवश्यक है। मन दो प्रकार हैं (१) द्रव्य मन और (२) भाव मन। 'मन्यते अनेन, ते मनः' इस व्याख्या के अनुसार जिसके द्वारा मनन

किया जाय उसे मन कहते हैं । इसके सिवाय 'मननं
अर्थात् मनन करना भी मन कहलाता है । तात्पर्य
कि आत्मा अपने में जिन विशेष पुद्गलों का संचय
है और जिन पुद्गलों के समूह से आत्मा में मनन का
शक्ति आती है, उन पुद्गलों का समूह मन कहलाता
द्रव्य मन से द्रव्य मनन होता है और भाव मन से
मनन होता है ।

जो वस्तु देखी सुनी जाती है, उसके विषय में
ही किसी प्रकार का विचार करता है । उदाहरणार्थ-
खम्भे को देखती है, पर यदि मन न हो तो 'यह खम्भ
यह बात जानी नहीं जा सकती । इस प्रकार वस्तु को
पर भी अगर देखने के साथ मन न हो तो 'यह अमुक
है' इस प्रकार ज्ञान नहीं हो सकता । अनेक बार हम
वस्तुएं देखते हैं, लेकिन उस देखने के साथ अगर मन
होता तो वस्तुएं ध्यान में नहीं आती । अर्थात्
ज्ञान नहीं होता । इस तरह जिसकी सहायता से वस्तु
जाय और जानी हुई वस्तु के विषय में कल्पना करके
किया जा सके, उसे मन कहते हैं ।

द्रव्य मन और भाव मन संज्ञी जीव को ही हो
असंज्ञी जीव के भी मन तो होता है, मगर उसके भाव
ही होता है द्रव्य मन नहीं । इस कारण असंज्ञी जीव
वस्तु पर विचार नहीं कर सकते । अन्धे के सामने
रख दिया जाए तो दर्पण में अन्धे का प्रतिविम्ब तो
है मगर अन्धा इस प्रतिविम्ब को देख नहीं सकता
उसके पास देखने का साधन नहीं है । इसी प्रकार

को भाव मन तो होता है पर द्रव्य मन नहीं होता। कारण असंज्ञी जीव वस्तु सामने होने पर भी उसके न्ध में कुछ विचार नहीं कर सकते। जब भाव मन के द्रव्य मन होता है तभी वस्तु के विषय में विचार किया सकता है।

मन और चित्त पर्यायवाची शब्द हैं। भगवान् ने है—मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है।

प्रश्न खड़ा होता है—मन को किस प्रकार वश में जाये और किस प्रकार एकाग्र रखा जाए? आँखें बंद वश में की जा सकती हैं, नाक को दबा कर वश में जा सकता है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों को भी अंकुश वश में किया जा सकता है। मगर मन किस प्रकार में किया जाये? यह एक विकट प्रश्न है। कुछ लोगों ो यहां तक कहा है—

**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**

अर्थात्—मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का ण है।

मन का संकल्प-विकल्प कैसा होता है यह बात सभी ते है। मनुष्य हो या पशु जिसके मन है, उनका मन ल्प-विकल्प करता ही रहता है। अच्छे या बुरे काम के संकल्प-विकल्प से ही होते हैं। बिल्ली उन्हीं दाँतों अपने बच्चों को दबाती है और उन्हीं दाँतों से चूहे को ती है। दाँत तो वही हैं मगर मन के संकल्प-विकल्प में र पड़ जाने से वस्तु में भी अन्तर पड़ जाता है।

मन में यह जो अन्तर रहता है, उसका कारण की चंजलता है। जब मन की चंचलता दूर हो जाये मन में किसी प्रकार का भेदभाव न रहे तब समझना चा कि मन वश में हो गया है। जब तक मन में भेदभाव रहे तब तक मन वश में नहीं हुआ है।

कहा जा सकता है कि चित्त की चंचलता दूर और मन में तनिक भी भेदभाव न आने देना तो बहुत कठिन कार्य है। जब साधु भी इतना कठिन कार्य नहीं सकते तो गृहस्थ मन को कैसे वश कर सकते हैं ?

इसका उत्तर यह है कि इस सम्बन्ध में साधु या का कोई प्रश्न ही नहीं है। जो कोई मनुष्य अभ्यास वैराग्य को जीवन में उतारता है, वही मन को वश में सकता है। मन को वश में करने के अभ्यास और वैराग्य दो उपाय हैं। मन को वश में लाने का अभ्यास किस करना चाहिए, यह विचार बहुत लम्बा है। का समावेश इसी अभ्यास में होता हैं। इस सम्बन्ध टीकाकार कहते हैं कि मन को अप्रशस्त में जाने से कर प्रशस्त में पिरो देने से धीरे-धीरे मन एकाग्र हो जा अर्थात् एक ओर से तो मन को अप्रशस्त में जाने से और दूसरी ओर उसे परमात्मा के ध्यान में पिरोते जा तो मन वश में किया जा सकेगा और उसकी एकाग्रता साधी जा सकेगी।

मन को वश में करने के लिए वैराग्य भी एक है। इन्द्रियों का समूह बलवान होने के कारण मन अपनी ओर खींचता रहता है। अतः पदार्थों के प्रति

व रखना उचित है । विरक्ति होने से इन्द्रियां उन की ओर नहीं खिंचेगी और तब मन भी उनकी ओर ाएगा और स्थिर रहेगा । वस्तु के वास्तविक स्वरूप ाचार करके उसके प्रति वैराग्य रखना चाहिए । वैराग्य करने से मन भी स्थिर रहेगा । वस्तु के असली का विचार न करने के कारण ही वस्तु के प्रति ेष की उत्पत्ति होती है । वस्तु का वास्तविक स्वरूप ा जाए तो वैराग्य पैदा हुए बिना नहीं रह सकता मन भी वश में किया जा सकता है । इस प्रकार मन श में करने का और एकाग्र करने का उपाय अभ्यास वैराग्य है । अभ्यास और वैराग्य से ही मन पर काबू जा सकता है ।

लोगों को रुपयों के प्रति बहुत ममता है । मगर क्या है, किस प्रकार प्राप्त किया जाता है और रुपये लन से समाज और देश की आन्तरिक स्थिति को ी अधिक हानि पहुंची है, इन बातों पर पूरा विचार जाए तो रुपये के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नहीं । सिक्के का जितना अधिक प्रचार हुआ, उतने ही क अनर्थ बढ़े हैं । सिक्कों के लिए ही पशुवध किया है । फूक्का का घातक प्रयोग करके गाय के आंचल दूध काढ़ने का पापपूर्ण कार्य भी रुपये के लिए ही जाता है । इस प्रकार रुपये से होने वाले अनर्थों का ार किया जाये तो रुपये के प्रति वैराग्य होगा ही ।

बड़े-बड़े शहरों में कुलांगनाएं वेश्या बन कर अपना र दूसरों को किसलिए सौंपती हैं ? केवल पैसों के लिए ।

उन्हें पैसों पर ममता न होती तो शायद देव भी उन्हे
लित न कर सकते। पैसा ही उनका सतीत्व नष्ट
है। भाई-भाई और पिता-पुत्र के बीच पैसों के कार
रार होती है। राजा लोग भी प्रजा के कल्याण के
राज्य नहीं चलाते, वरन् पैसों के लिए ही राज्य चल

इस प्रकार पैसे के कारण होने वाले अनर्थों का
करने से उसके प्रति वैराग्य होगा ही। अनर्थ उत्पन्न
वाला और राग-द्वेष की वृद्धि करने वाला कनक और
ही है। कनक और कामनी के कारण होने वाले अन
विचार करने से गृहस्थ को भी वैराग्य हो सकता है
तरह मन को वश करने के विषय में साधु और गृह
कोई भेद-भाव बाधक नहीं हो सकता। कोई भी क्यों
अभ्यास और वैराग्य द्वारा अगर वह मन को वश में
चाहता है तो अवश्य कर सकता है।

मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है।
का निरोध तो मन की एकाग्रता का परम्परा फल है
की एकाग्रता का साक्षात् फल यह है कि एकाग्र मन
जो कुछ भी बोलता है, सत्य ही बोलता है और जो
रथ करता है वह पूर्ण ही होता है। मानसिक एकाग्र
ही अमोघ भाषण और मनोरथ की पूर्ति होती हैं।
मन को एकाग्र करो। मन को एकाग्र करने के लि
बारम्बार यही कहता हूं कि परमात्मा का भजन क
परमात्मा का भजन से मन एकाग्र होगा। दूसरे कामों
मन हटाकर परमात्मा का भजन में ही मन पिरो दो
परमात्मा के भजन का सहारा लेकर मन को एकाग्र क

चित्त की चंचलता दूर होगी। इसलिए परमात्मा का
न करने में देरी मत करो। कहा भी है—

दम पर दम हरि भज- नहीं भरोसा दम का,
एक दम में निकल जावेगा दम आदम का।
दम आवे न आवे इसकी आश मत कर तू,
एक नाम सांई का जप हिरदे में धर तू॥
नर! इसी नाम से तर जा भवसागर तू,
दम आवे न आवे इसकी आश मत कर तू॥

श्वास का विश्वास नहीं। श्वास तो वायु है। कदा- त् आवे, कदाचित् न भी आवे। इसका क्या भरोसा! लिए मुख में से श्वास निकलने के पहले ही परमात्मा भजन करो। इस प्रकार परमात्मा का भजन करने से एकाग्र होगा।

आत्मा एक बड़ी भूल कर रहा है। वह यह की तुच्छ जों में मन का प्रयोग करके आत्मा परमात्मा को भूल ा है। वह इतना भी तो नहीं सोचता कि मेरा मन मात्मा में एकाग्र हो जाएगा तो उस दशा में मुझे तुच्छ तुओं की क्या कमी रह जाएगी। इस प्रकार विचार न के आत्मा अपने मन को इधर-उधर दौड़ाया करता है। मन की चंचलता है। इस चंचलता को दूर करने के ए ही शास्त्रकार मन को एकाग्रता की आवश्यकता बत- ते हैं। मन को परमात्मा में एकाग्र किया जाये तो वह ुभ से हट कर शुभ में प्रवृत हो जाये। इधर-उधर टकना मन का स्वभाव है। मगर सावधानी यह रखनी

चाहिए कि वह खराब मार्ग में न दौड़े । अगर मन स
में दौड़े तो वह भी आत्मा को यथास्थान पहुंचा सकत

मन को परमात्मा के साथ जोड़ने से कठिन से
संयोग भी सरल हो जाते हैं । लोग कहते हैं—यह
काल बड़ा कठिन है । मगर जो लोग वास्तव में
काल को कठिन मानते हैं, वे क्या अपना मन परमा
जोड़ने में पल भर भी विलम्ब कर सकते हैं ? भूख
पर भोजन और प्यास लगने पर पानी याद आता
प्रकार इस संकटकाल में परमात्मा का स्मरण होना च
ऐसे विकट समय में परमात्मा का स्मरण किया जा
मन को परमात्मा में एकाग्र कर दिया जाये तो फिर
प्रकार संकट रह ही न जाये !



# छब्बीसवां बोल

## संयम



जिसका मन एकाग्र होता है उन्हीं का संयम
यमान होता है और जिसमें संयम हैं उन्हीं के मन
एकाग्रता सार्थक होती है । अतः संयम के विषय में भ
से प्रश्न किया गया है—

### मूलपाठ

प्रश्न—संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—संजमेणं अणण्हत्तं जणयइ।

## शब्दार्थ

प्रश्न–भगवान् ! संयम से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–संयम से अनाहतपन (अनाश्रव-आते हुए कर्मों निरोध) प्राप्त होता है।

## व्याख्यान

संयम के विषय में भगवान् ने जो उत्तर दिया है, पर विचार करने से पहले यह देखना चाहिए कि ा क्या है ?

शास्त्र में संयम के विषय में विस्तृत विवेचन किया है। उन सब का यहां विवेचन किया जाये तो बहुत क विस्तार होगा। अतएव संयम के विषय में यहां प में ही विवेचन किया जायेगा।

आजकल संयम शब्द पारिभाषिक बन गया है। मगर ार करने से मालूम होगा कि संयम का अर्थ बहुत ृत है। शास्त्र में संयम के सत्तरह भेद बतलाये गये इन भेदों में संयम के सभी अर्थों का समावेश हो जाता संयम के सत्तरह भेद दो प्रकार से बतलाये गये हैं। आस्रवों को रोकना, पांच इन्द्रियों को जीतना, चार ायों का क्षय करना और मन, वचन तथा काय के योग निरोध करना, यह सत्तरह प्रकार का संयम है।

दूसरी तरह से निम्नलिखित सत्तरह भेद होते हैं—

(१) पृथ्वीकाय संयम (२) अपकाय संयम (३) वा
संयम (४) तेजकाय संयम (५) वनस्पतिकाय संयम
द्वीन्द्रियकाय संयम (७) त्रीन्द्रियकाय संयम (८)
न्द्रियकाय संयम (९) पंचेन्द्रियकाय संयम (१०)
काय संयम (११) प्रेक्षा संयम (१२) उपेक्षा संयम (
प्रमार्जना संयम (१४) परिस्थापना संयम (१५) मनः
(१६) वचन संयम (१७) काय संयम। इस तरह दो
से संयम के सत्तरह भेद हैं। संयम का विस्तारपूर्वक
करने में सभी शास्त्र उसके अन्तर्गत हो जाते हैं।

जीवन भर के लिए पांच आस्रवों से, तीन करण
तीन योग द्वारा निवृत्ति होना संयम स्वीकार करना
। किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, असत्य न व
मालिक की आज्ञा बिना कोई भी वस्तु ग्रहण न
संसार की समस्त स्त्रियों को माता-बहिनों के समान सम
और भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही धर्मोपकरण
के सिवाय कोई परिग्रह न रखना, इस प्रकार पांच
से निवृत्त होना और पांच महाव्रतों का पालन करना
पाँच इन्द्रियों का दमन करना। पांच इन्द्रियों को
करने का अर्थ यह नहीं है कि आंख बन्द कर लेना या
में शब्द ही न पड़ने देना। ऐसा करना इन्द्रियों का
नहीं है। बल्कि इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने
देना इन्द्रियनिरोध कहलाता है। प्रत्येक इन्द्रिय का उ
करते समय ज्ञानदृष्टि से विचार कर लिया जाये तो
अनर्थों से बचा जा सकता है।

जब तुम्हारे कान में कोई शब्द पड़ता है तो

ना चाहिए मेरा कान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान वगैरह प्राप्त
का साधन है। अतएव मेरे कान में जो शब्द पड़े हैं
रा अज्ञान बढ़ाने वाले न हों जाएं, यह बात मुझे ख्याल
खनी चाहिए। जब तुम्हारे कान में कटु शब्द टकराते
ब तुम्हारा हृदय कांप उठता है। मगर उस समय ऐसा
र कर निश्चल रहना चाहिए कि यह तो मेरे धर्म की
टी है। यह कटु शब्द शिक्षा देते हैं कि समभाव धारण
से ही धर्म की रक्षा होगी। अतएव कटुक शब्दों
धर्म पर स्थिर करने में सहायक मानकर समभाव
ना चाहिए।

इसी प्रकार कोई मनुष्य तुम्हें लम्पट या ठग कहे तो
सोचना चाहिए कि मैं एकेन्द्रिय होता तो क्या मुझे यह
सुनने को मिलते? और उस अवस्था में कोई मुझे यह
कहता? कदाचित् कोई कहता भी तो मैं उन्हें समझ
न सकता। अब जब मुझे समझने योग्य इन्द्रियां प्राप्त
हैं तो इस प्रकार के शब्द सुनकर मेरा क्या कर्त्तव्य
ा है? वह मुझे लम्पट और ठग कहता है। मुझे सोचना
हिए कि क्या मुझमें ये दुर्गुण हैं? अगर मुझमें यह दुर्गुण
ो मुझे दूर कर देना चाहिए। वह बेचारा गलत नहीं
रहा है। विचार करने पर उक्त दुर्गुण अपने में दिखाई
ें तो सोचना चाहिए, हे आत्मा! क्या तू इतना कायर
क इस प्रकार के कठोर शब्दों को भी नहीं सहन कर
ता? कठोर शब्द सुनने जितनी भी सहिष्णुता तुझमें नहीं
यह कायरता तुझे शोभा नहीं देती। जो व्यक्ति अप-
द कहता है उसे भी चतुर समझ। वह भी अपशब्दों को
ाब मानता है। इस प्रकार तेरा और उसका ध्येय एक

है । इस प्रकार विचार करके अपशब्द सुनकर भी जो
रहता है उसी ने श्रोत्रेन्द्रिय पर विजय प्राप्त की है।

इसी प्रकार सुन्दरी स्त्री का रूप देखकर ज्ञान
विचार करते हैं इस स्त्री को पूर्वकृत पुण्य के उदय से
यह सुन्दर रूप मिला है । अपने सुन्दर रूप द्वारा यह
मुझे शिक्षा दे रही है कि अगर तू पुण्य का संचय
तो सुन्दरता प्रदान करने वाले पुद्गल तेरे दास बन जा

किसी सुन्दर महल को देखकर भी यह सोचना चा
कि यह महल पुण्य के प्रताप से ही बना है । मेरे
यही उचित है कि मैं इस महल की ओर दृष्टि ही न डा
फिर भी उस पर अगर मेरी नजर जा ही पड़ती है तो
मानना चाहिए कि यह महल किसी के मस्तिष्क की
उपज है । मस्तिक से यह महल बना है, लेकिन
मस्तिष्क ही बिगड़ जाये तो कितनी बड़ी खराबी होगी
तो फिर सुन्दर महल देखकर मैं अपना दिमाग क्यों बिगाड़,
अगर मैंने अपना मन और मस्तिष्क स्वच्छ रखकर
का पालन किया तो मेरे लिए देवों के महल भी तुच्छ
जाएंगे ।

महाभारत में व्यास की झौंपड़ी और युधिष्ठिर
महल की तुलना की गई है और युधिष्ठर के महल
व्यास की झौंपड़ी अधिक अच्छी बतलाई गई है । इस
कारण यह है कि जहां निवास करके आत्मा अपना कल्या
साधन कर सके वही स्थान ऊचा है और जहां रहते
आत्मा का अकल्याण हो वह स्थान नीचा है । जहां
से भावना उन्नत रहे वह स्थान ऊंचा है और जहां रहते

ा नीची हो जाये वह स्थान नीचा है। अगर तुम इस ार विचार करोगे तो तुम्हारा विवेक जागृत हो जायेगा।

गुरु के प्रताप से हम लोग सहज ही अनेक पापों से हुए हैं। जो श्रावक अपना श्रावकपन पालन करता है भी पहले देवलोक से नीचे नहीं जाता। मगर एक-एक के लिए झूठ बोलना कोई श्रावकपन नहीं है। क्या म से यह आशा रखूं कि तुम असत्य भाषण न करोगे? कोई यह कहता है कि झूठ बोले बिना काम नहीं ा तो उससे कहना चाहिए कि असत्य बिना काम चलता होता तो तीर्थङ्कर भगवान् ने असत्य बोलने नेषेध क्यों किया होता? क्या वे इतना भी नहीं समथे? वास्तव में यह समझ ही भ्रमपूर्ण है। इस भूल भूल मानकर असत्य का त्याग करो और सत्य का न करो। सत्य की आराधना करने में कदाचित् कोई आ पड़े तो उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहो मगर सत्य पर रहो। क्या हरिश्चन्द्र ने सत्य का पालन करने में हुवे कष्ट सहने में आनन्द नहीं माना था? फिर आज का पालन करने में आये हुए कष्टों से क्यों घबराते? आज लोग व्यवहार साधने में ही लगे रहते हैं और झ बैठे हैं कि असत्य के बिना हमारा व्यवहार चल ही सकता। मगर यह मानना गम्भीर भूल है। दरअसल सत्य के आचरण से व्यवहार सरल बनता है। असत्य आचरण से व्यवहार में वक्रता आ जाती है। भगवान् ात्य का महत्त्व बतलाते हुए यहां तक कहा है कि 'तं ां खु भगवं'। अर्थात् सत्य ही भगवान् है। ऐसी दया सत्य की उपेक्षा करना कहां तक उचित है? सत्य

अटल विश्वास रखने से तुम्हारा कोई भी कार्य नहीं सकता और न कोई किसी प्रकार की हानि पहुंचा सक

कहने का आशय यह है कि इन्द्रियों को और को वश में करने के साथ व्यवहार की रक्षा भी चाहिए। निश्चय का ही आश्रय करके व्यवहार को देना उचित नहीं है। केवली भगवान् भी इसलिए प सहन करते हैं कि हमें देखकर दूसरे लोग भी परिषह की सहिष्णुता सीखें। इस प्रकार केवली को भी 'व्य की रक्षा करना चाहिए' ऐसा प्रकट करते हैं। अतएव निश्चय को ही पकड़ कर नहीं बैठा रहना चाहिए।

इन्द्रियों और मन को वश में करने के साथ कषायों को भी जीतना चाहिए और मन, वचन तथा के योग को भी रोकना चाहिए। यह सत्तरह प्रकार संयम है।

इस तरह सत्तरह तरह के संयम का पालन करने का मन एकाग्र हो जाता है। जिसका मन एकाग्र रहता वह इस प्रकार के उत्कृष्ट संयम का पालन नहीं सकता। शास्त्र में कहा है—

अच्छंदा जे न भुंजन्ति से चाइत्ति वुच्चइ।

—दशवैकालिक

अर्थात्—जो मनुष्य पदार्थ न मिलने के कारण उपभोग नहीं कर सकता, फिर भी जिसका मन उन की ओर दौड़ता है, उसे उन पदार्थों का त्यागी नहीं सकते वह भोगी ही कहा जाएगा, इसके विपरीत जो

र्थ मौजूद रहने पर भी उसकी ओर अपना मन नहीं
ं देता वह उन पदार्थों का भोगी नहीं वरन् त्यागी ही
हलाता है ।

तुम इस बात का विचार करो कि हमारे अन्दर संयम
ा नहीं ? अगर है तो उसका ठीक तरह पालन करते हो
नहीं ? आज बाहर की फैशन से, बाहर के भपके से
दूसरों की नकल करने से तुम्हारे संयम की कितनी
न हो रही है, इसका विचार करके फैशन से बचो और
मय जीवन बनाओ तो तुम्हारा और दूसरों का कल्याण
ा ।

संयम के फल के विषय में भगवान् ने कहा है—
म से जीव में अनाहतपन आता है । साधारणतया संयम
फल आस्रवरहित होना माना जाता है पर यह साक्षात्
नहीं है । संयम के साक्षात् अर्थ के विषय में टीकाकार
ते हैं संयम से जीव ऐसा फल प्राप्त करता है, जिसमें
की विद्यमानता ही नहीं रहती । संयम से आश्रव रहित
स्था प्राप्त होती है और यह अवस्था प्राप्त होने के बाद
व निष्कर्म दशा प्राप्त कर लेता है । सूत्रसिद्धान्त बीज
में ही कोई बात कहते हैं अतः उसका विस्तार करके
ार करना आवश्यक है ।

संयम का फल निष्कर्म अवस्था प्राप्त करना कहा
ा है । इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि निष्कर्म अवस्था
तप द्वारा प्राप्त होती है । अगर संयम से ही कर्मरहित
स्था प्राप्त होती हो तो तप के विषय में जुदा प्रश्न क्यों
या गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वर्णन करने

में एक वस्तु ही एक बार आती है। तप और संयम स
प्रश्न अलग-अलग हैं, परन्तु दोनों का अर्थ तो एक ही
चारित्र का अर्थ करते हुए बतलाया गया है कि
अर्थ 'कर्मसंचय' होता है और 'रित्र' का अर्थ रिक्त
है। अर्थात् कर्मसंचय को रिक्त (खाली) करना
चारित्र कहो या संयम कहो एक ही बात है। अतः च
का फल ही संयम का फल है। चारित्र का फल कर्म
अवस्था प्राप्त करना है और संयम का भी यही फल

कोई कर्म पुराना होता है और कोई अनागत
आने वाला-होता है। कोई ऋण पुराना होता है और
आगे किया जाने वाला होता है। पुराने कर्मों की तो
होती है मगर नवीन कर्म असीम होते हैं। इस क
एक उद्देश्य है जो लोग कहते हैं कि संयम का फल
अकर्म अवस्था प्राप्त करना है तो तप का फल अलग
बतलाया गया है? यदि तप और संयम का फल एक
तो दोनों का अलग-अलग, प्रश्न रूप में वर्णन क्यों
गया है? अगर दोनों का वर्णन अलग-अलग है तो
और संयम में क्या अन्तर है? इन प्रश्नों का, मेरी
से, यह उत्तर दिया जा सकता है कि संयम आगे आ
कर्मों को रोकता है और तप आगत अर्थात् संचित
को नष्ट करता है। संचित कर्मों की तो सीमा होती
अनागत कर्मों की सीमा नहीं होती है। संयम नवी
नहीं बन्धने देता और पुराने कर्मों का नाश करता है।
असीम कर्मों को रोकता है, अतएव संयम का कार्य
है। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि
निष्कर्म अवस्था प्राप्त होती है। जो महान् कार्य

ी का पद ऊंचा माना जाता है।

इस कथन से यह विचारणीय हो जाता है कि जो ूतकाल का ख्याल नहीं करता और भविष्य का ध्यान नहीं खता, सिर्फ वर्त्तमान के सुख में ही डूबा रहता है वह क्कर में पड़ जाता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह र्तव्य है कि वह भूतकाल को नजर के सामने रखकर पने भविष्य का सुधार करे। इतिहास पर दृष्टिपात करनें ज्ञात होता है कि पहले जो लोग युद्ध में लड़ने के लिए ाते थे और अपनें प्राणों की भी बलि चढ़ा देते थे, क्या न्हें प्राण प्यारे नहीं थे ? प्राण तो उन्हें भी प्यारे थे मगर विष्य की प्रजा परतन्त्र न बने और कायर न हो जाये सी दृष्टि से वे राजपाट छोड़कर युद्ध करनें जाते थे और पनें प्राणों को तुच्छ समझते थे।

इस व्यवहारिक उदाहरण को सामनें रखकर संयम विषय में विचार करो। जैसे योद्धागण अपनें राजपाट ौर प्राणों की ममता त्याग कर लड़ने के लिए जाते थे ौर भविष्य की प्रजा के सामनें पराधीनता सहन न करनें ा आदर्श उपस्थित करते थे, उसी प्रकार प्राचीनकाल के ो लोग राजपाट त्याग कर संयम स्वीकार करते थे, वे ी आत्मकल्याण साधनें के साथ, इस आदर्श द्वारा जगत ा कल्याण करते थे। उनकी संतान सोचती थी—हमारे ूर्वजों ने तृष्णा जीती थी तो हम क्यों तृष्णा में ही फंसे हें ? प्राचीनकाल के राजा या तो संयम पालन करते-करते ृत्यु से भेंटते थे या युद्ध करते-करते। वे घर में छटपटाते ुए नहीं मरते थे। आजकल के लोग तो घर में पड़े-पड़े ाय-हाय करते हुए मरण के शिकार बनते हैं ऐसे कायर

लोग अपना अकल्याण तो करते ही है, साथ ही दूस
भी अकल्याण करते हैं। इसीलिए शास्त्रकार उपदेश दे
हे आत्मा ! तूं भूत-भविष्य का विचार करने संयम
स्वीकार कर। संयम आते हुए कर्मों को रोकता है
निष्कर्म अवस्था प्राप्त करता है।

कोई कह सकता है कि क्या हमें संयम स्वीक
लेना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि अगर पूर्ण
स्वीकार कर सको तो अच्छा ही है, अन्यथा संसार
जो मानते है उसे ही कम करो ! इतना करोगे तो भ
है। आज लोग साधन को ही साध्य मानने की भूल
रहे हैं। उदाहरणार्थ-धन व्यावहारिक कार्य का एक
है। धन के द्वारा व्यवहारोपयोगी वस्तुएं प्राप्त की
सकती हैं। मगर हुआ यह कि लोगों ने इस साधन
साध्य समझ लिया है और वह धनोपार्जन करने
अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं। जरा विचा
करो कि धन तुम्हारे लिए है या तुम धन के लिए
कहने को तो झट कह दोगे कि हम धन के लिए नहीं
धन हमारे लिए है। मगर कथनी के अनुकूल करनी
नहीं ? सबसे पहले यही सोचो कि तुम कौन हो ?
विचार कर फिर यह भी विचार करो कि धन किसके
है ? तुम रक्त, हाड या मांस नहीं हो। यह सब वस्तु
शरीर के साथ ही भस्म होने वाली हैं। अतः धन हाड
के लिए नहीं वरन् आत्मा के लिए है। यह बात भली
समझकर आत्मा को धन का गुलाम मत बनाओ। यह
समझ लेने वाला धन का गुलाम नहीं बनेगा, अपितु
का स्वामी बनेगा। वह धन को साध्य नहीं, साधन

धनोपार्जन में ही अपना जीवन समाप्त नहीं कर देगा। जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न भी करेगा।

अगर आप यह मानते हैं कि धन आपके लिए है, धन के लिए नहीं हैं तो मैं पूछता हूं कि आप धन के पाप तो नहीं करते? असत्य भाषण, विश्वासघात और पुत्र आदि के बीच क्लेश किसके लिए होता है धन लए ही सब होता है। धन से संसार क्लेश-कलह इस बात का प्रमाण है कि लोगों ने धन को साधन ने के बदले साध्य समझ लिया है। लोगों की इस भूल ारण ही संसार में दुःख व्याप रहा है। धन को साध्य ने के बदले साधन माना जाये और लोकहित में उसका यय किया जाये तो कहा जा सकता है कि धन का सदु- ा हुआ है। इसके बदले आप साधन-सम्पन्न होने पर यदि किसी वस्त्रविहीन को ठण्ड से ठिठुरता देखकर भी भूख-प्यास से कष्ट पाते देखकर भी उसकी सहायता करते तो इससे आपकी कृपणता ही प्रकट होती है। का सदुपयोग करने में हृदय की उदारता होना आवश्- है। हृदय की उदारता के अभाव में धन का सद्व्यय हो सकता। धन तो व्यवहार का साधन मात्र है। साध्य नहीं है यह बात सब को सर्वदा स्मरण रखनी हए। धन के प्रति जो मोह है उसका त्याग करने में ही ाण है 'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते' अर्थात् धन प्रमादी ा की रक्षा नहीं कर सकता। शास्त्र के इस कथन को भांति समझ लेने वाला धन को कदापि साध्य नहीं झेगा। वह धन के प्रति ममत्व का भाव भी नहीं रखेगा। के प्रति इस प्रकार निर्मल बनने वाला भाग्यवान् पुरुष

ही संयम के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

धन की भांति शरीर को भी साधन ही सम
चाहिए। शरीर को आप अपना मानते हैं मगर क्या
के लिए यह आपका है? अगर नहीं तो फिर यह अ
कैसे हुआ? श्रीभगवतीसूत्र में कहा है—कर्मों का ब
अकेले आत्मा से होता है और न अकेले शरीर से ही
है। अगर अकेले शरीर से कर्म बन्ध होता तो उसका
आत्मा क्यों भोगता? अगर अकेले आत्मा से बन्ध होत
शरीर को फल क्यों भोगना पड़ता? आत्मा और
एक दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं और दूसरी दृष्टि से अभि
हैं। अतएव कर्म दोनों के द्वारा कृत हैं। ऐसी स्थि
शरीर को साधन समझ कर उसके द्वारा आत्मा का क
करना चाहिए। जो शरीर को साधन समझेगा वही
स्वीकार कर उसका फल प्राप्त कर सकेगा। जिस व
प्रति ममता का त्याग कर दिया जाता है, उस वस्तु
संयम करना कहलाता है। अतः बाह्य वस्तुओं के
जितने परिणाम में ममता त्यागोगे, उतने ही परिणाम
आत्मा का कल्याण साध सकोगे।

भगवान् ने संयम का फल निष्कर्म अवस्था की प्र
बतलाया है। कर्मरहित अवस्था प्राप्त करना अपने ही
में है। संयम किसी भी प्रकार दुःखप्रद नहीं वरन् आन
प्रद है और परलोक में भी आनन्ददायक है।



# सत्ताईसवां बोल

## तप

---

चारित्र अर्थात् संयम के विषय में विवेचन किया जा
। संयम से अनागत कर्मों का निरोध होता है—आगे
वाले कर्म रुकते हैं मगर जो कर्म आ चुके हैं, उनका
करने के लिए क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर
ास्त्र कहता है पूर्व कर्मों को नष्ट करने का साधन
है ।

लोगों को भावी रोग की इतनी चिन्ता नहीं होती,
ी वर्तमान रोग की होती है । भावी रोग तो पथ्य,
र-विहार से भी अटक सकता है परन्तु वर्तमान रोग
निवारण करने के लिए औषध का सेवन करना पड़ता
कर्मरूप भावी रोग को रोकनें के लिए संयम की आव-
ता है और वर्तमान कर्म-रोग को अटकावे के लिए तप
कर्मरूपी भावी रोग के निवारण के लिए संयम पथ्य
मान है । जो रोगी पथ्य का ध्यान नहीं रखता और
रोग का उपाय नहीं करता उसका उपचार डॉक्टर
कर सकता । कल्पना कीजिए—डॉक्टर रोगी को अमुक
न खाने के लिए कहता है, मगर प्रत्युत्तर में रोगी
ा है कि उसे खाये बिना मेरा चल ही नहीं सकता ।
बतलाइए, ऐसे रोगी का उपचार डॉक्टर क्या खाक
ा ?

इस प्रकार कर्मरूपी रोग को मिटानें के लिए जो
संयमरूपी पथ्य द्वारा, आते हुए कर्मों को नहीं रोकता

बल्कि आस्रव में ही पड़ा रहना चाहता है, उस के लिए वर्तमान कर्मों को नष्ट करने की दवा बतलाना ही है। हां, जो भद्र पुरुष संयमरूपी पथ्य का पालन करता है और इस प्रकार आते कर्मों को अटकाता है; उसके लिए शास्त्रकारों ने संचित कर्मों को नष्ट करने की तपस्या बतलाई है।

संयम स्वीकार करने वालों को संचित कर्मों को नष्ट करने के लिये तप करना आवश्यक है। अतएव अब तप के विषय में प्रश्न किया गया है—

## मूलपाठ

प्रश्न—तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—तवेणं जीवे ! वोदाणं।

## शब्दार्थ

प्रश्न—भगवान् ! तप करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—तप करने से व्यवदान अर्थात् पूर्व कर्मों का क्षय होता है।

## व्याख्यान

तप के फल के विषय में विचार करने से पहले तप क्या है, इस बात का विचार करना आवश्यक है। तप शब्द 'तप् संतापने' धातु से बना है। जो तपाता है उसे तप कहते हैं। यह तप शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है। भगवान

त्ति-अर्थ को जान लेने से वस्तु समझ में नहीं आ
ो। वास्तविकता समझने के लिए प्रवृत्ति निमित्त को
ामझना चाहिए। जो तपाता है वह तप है। इस अर्थ
ुसार तो अग्नि भी तप कहलाती है, क्योंकि वह भी
ी है। अतएव यहां देखना है कि तप का प्रवृत्तिनिमित्त
है? प्रवृत्तिनिमित्त के लिए शास्त्र में कहा है—कर्मों
ाय करने के लिए आत्मा को तपाना तप है। कर्मों के
के अतिरिक्त अन्य किसी भी सांसारिक कार्य के लिए
जाने वाले तप की गणना इस तप में नहीं हो सकती।
सिर्फ उसी तप से अभिप्राय है जो कर्मों को नष्ट करने
ेश्य से किया जाता है।

कर्मों को भस्म करने के लिए आत्मा को तपाना तप
ास्तविक अर्थ है, पर समुच्चय रूप से इस प्रकार कह
र भी तप का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। इस कारण
ाकारों ने तप के छह आन्तरिक भेद और छह बाह्य
किये हैं। कुल बारह प्रकार का तप है। प्रायश्चित्त
ा, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग, यह तप
भ्यान्तर छह भेद हैं तथा अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप
रित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता, यह छह बाह्
के भेद हैं।

आज तप के अर्थ में प्रायः अनशन ही समझा जात
ार अनशन तप ही बड़ा तप समझा जाता है। शास्त्र
ने भी तप में अनशन को महत्व का स्थान दिया है
ान तप कर्मों को नष्ट करने का भी उपाय है और
ारिक रोगों का भी उससे नाश होता है। अमेरिका के

उपवास चिकित्सकों ने उपवास द्वारा रोगियों के ऐ
रोग मिटाये हैं, जिन्हें डॉक्टरों ने असाध्य कह कर
दिया था। इससे भगवान् महावीर के धर्म की व्या
समझी जा सकती है। साम्प्रदायिक दृष्टि से भले ही
अपने को भगवान् महावीर का न माने परन्तु भगव
सिद्धान्त की दृष्टि से समस्त संसार ही भगवान् म
का है और सारा संसार उन्हें मानता है। अनशन त
लाभप्रद कौन नहीं मानता ? सभी लोग और सभी
अनशन को लाभप्रद समझते हैं। अनशन तप से आध्या
लाभ भी होता है और शारीरिक लाभ भी होता है।

अनशन के पश्चात् ऊनोदरी तप है। जो लोग
दरी तप का सेवन करते हैं उन्हें अनशन तप
की प्रायः आवश्यकता ही नहीं रह जाती। ऊनोद
अर्थ है—उदर में जितनी जगह हो उससे कम खाना
प्रकार ऊनोदरी तप का अनुष्ठान करने से आध्यात्मि
भी होता है और शारीरिक लाभ भी होता है। मग
तो पेट को मानो 'डिनर बोक्स' समझ बैठे हैं ! वे
से अधिक ठूंस-ठूंस कर पेट भरते हैं जैसे 'लेटर बो
डालने के लिए सदैव खुला रहता है। उसी प्रकार
लोगों का मुंह पेट में भोजन ठूंसने के लिए खुला रह
उन्हें यह विचार ही नहीं आता कि परिमाण से
भोजन करने से भोजन सामग्री तो बिगड़ती ही है,
शरीर भी बिगड़ता है। अधिक भोजन करने के लि
तरह-तरह की तरकारियां, अचार, चटनी, मुरब्बा
बनाते हैं। पहले के लोग चौदह नियमों का चिन्तन
करते थे और इसीलिए द्रव्यों की मर्यादा करते थे कि

ण से अधिक न खाया जाये। अधिक न खाने से अर्थात्
म खाने से ऊनोदरी तप भी हो जाता है और शरीर भी
स्थ रहता है।

तीसरा तप वृत्तिसंक्षेप है, यह तप प्रधानतः साधुओं
लिए है, मगर श्रावक यह न सोचें कि यह हमारे लिए
हीं है। साधुओं की वृत्ति भिक्षा है, श्रावकों की वृत्ति
क्षा नहीं है। जो श्रावक पडिमाधारी या संसार त्यागी
हीं है वह भिक्षा नहीं मांग सकता। इसी प्रकार साधुओं
लिए भी कहा गया है कि अगर तुम भलीभांति संयम
ा पालन कर सकते हो तो तुम्हारी भिक्षावृत्ति है, अन्यथा
रुषघ्नी भिक्षा है। जिससे संयम का पालन नहीं होता
ह याचना भी नहीं कर सकता।

प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना चाहिए
पनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहने वाले को संकट का सामना
हीं करना पड़ता। दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष को अनायास ही कहीं
कहीं से सहायता मिल जाती है।

नैपोलियन बोनापार्ट के विषय में सुना जाता है कि
सकी माता ने उससे कहा—अमुक कार्य के लिए मुझे
तने धन की आवश्यकता है। नैपोलियन अपनी माता का
हुत आदर करता था मगर उसके पास माता को संतुष्ट
रने योग्य धन नहीं था। उसने सोचा–माता की आज्ञा
ालन करने की प्रतिज्ञा मैं कर चुका हूं और इतना धन मेरे
ास नहीं है! ऐसी स्थिति में प्राण त्याग देना ही श्रेयस्कर
। इस प्रकार संकल्प करके वह मरने के लिए रवाना
आ। रास्ते में उसे एक अपरिचित मनुष्य मिला। उसने

नैपोलियन को एक थैली देकर कहा—'जरा इस थैली पकड़े रहिए, मैं पेशाव करके अभी आता हूं।' नैपोलियन ने सोचा—'चलो, मरना तो है ही। मरने से पहले भी कुछ काम कर दूं।' यों सोचकर नैपोलियन ने थैली अपने हाथ में ले ली। वह थैली लिए उस आदमी की प्रतीक्षा करता रहा, मगर थैली वाला न जाने कहां गायब हो गया। वह वापिस लौट कर नहीं आया। नैपोलियन ने थैली की ओर देखा तो उसमें उतना ही धन था जितना उसकी माता ने उससे मांगा था।

सब इस बात पर विचार कीजिए कि नैपोलियन को वह धन कहां से मिला? विचार करने से यही विदित होता है कि प्रतिज्ञा के प्रताप से ही वह धन नैपोलियन को प्राप्त हो सका।

ऐसी ही बात उदयपुर के महाराणा के विषय में सुनी जाती है। राणा जंगल में रहते थे। उस समय बादशाह फकीर बन कर राणा के अतिथिसत्कार-प्रेम की परीक्षा लेने आया। उसने राणा के पास पहुंचकर कहा—'मुझे चांदी की थाली में, मेवा की खिचड़ी खाने के लिए दीजिए।' राणा की प्रतिज्ञा थी कि वह अपने पास आये अतिथि को निराश होकर नहीं जाने देता था। मगर जिस समय बादशाह पहुंचा उस समय राणा के पास मुट्ठी भर अन्न का भी ठिकाना नहीं था। ऐसी स्थिति में वह चांदी के थाल में मेवा की खिचड़ी कहां से खिलाते? राणा ने बादशाह को पहचान लिया। मगर राणा ने यह विचार किया, 'यह फकीर बन कर आया है और मेरा मेहमान बना है। इसका सत्

ना मेरा फर्ज है । लेकिन सत्कार किस प्रकार किया
? आज मेरी प्रतिज्ञा भंग होने जा रही है । प्रतिज्ञा
होने की अपेक्षा तो मर जाना कहीं बेहतर है ।'

इस प्रकार सोच-विचार कर राणा ने फकीर से कहा—
इए, बैठिये ।' फकीर को बिठला कर आप पीछे के मार्ग
मर जाने के लिए जंगल की ओर चल दिया । रास्ते में
गा को एक मनुष्य मिला वह बैल पर माल लादे जा
था । उसने कहा—'भाई, मुझे शौच जाना है । थोड़ी
इस बैल को पकड़ रखो न ? मैं अभी लौट आता हूं ।'
णा ने सोचा—मरना तो है ही, इससे पहले इसका काम
र दिया जाये तो अच्छा ही है । इस प्रकार विचार कर
णा ने बैल को पकड़ लिया । वह मनुष्य बैल को पकड़ा
र चला गया और ऐसा गया कि बहुत देर तक भी वापिस
हीं लौटा । राणा खड़े-खड़े निराश हो गये सोचा देखूं
स पर क्या माल लदा हुवा है ? राणा ने देखा तो उन्हें
स्मय हुआ । उस पर चाँदी की थालियां और मेवा लदा
। राणा ने वह सब सामान लाकर फकीर का अतिथि-
त्कार किया ।

तात्पर्य यह है कि जो दृढ़प्रतिज्ञ होता है उसे किसी
किसी प्रकार से अनायास सहायता मिल जाती है । साधुओं
भी अपनी संयम पालने की प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना
ाहिए । संयम पालन के साथ ही भिक्षावृत्ति स्वीकार
रना उचित है ।

श्रावकों को भी वृत्तिसंक्षेप तप का पालन करना चाहिए।
न्हें अपनी वृत्ति में अधर्म न पैठने देने का सतत ध्यान

रखना चाहिए और प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना चाहिए। ऐसा करने से कार्य भी सफल होगा और संकटों से भी बचाव होगा। इसी प्रकार अन्य तपों का स्वरूप शास्त्र के अनुसार समझकर यथाशक्ति उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तपों में अनशन तप प्रधान है चाहे अनशन तप हो चाहे ऊनोदरी हो, वह कर्मों को नष्ट करने के लिए ही होना चाहिए। आजकल अनशन रोग नष्ट करने का भी एक साधन माना जाता है। इस प्रकार अनशन भले ही व्यावहारिक तप कहलाएगा पर ऐसे अनशन की गणना तप में नहीं हो सकती। वही अनशन तप में गिना जा सकता है जो कर्म नष्ट करने के उद्देश्य से किया गया हो।

पहले बतलाया गया था कि ऊनोदरी तप किया जावे तो अनशन करने की आवश्यकता ही न रहे। इसका अर्थ यह नहीं कि ऊनोदरी करने वाले को अनशन तप करना ही नहीं चाहिए। यह बात व्यावहारिक दृष्टि से कही गई थी कि रोग नष्ट करने के लिए जो ऊनोदरी करता है उसे अनशन करने की आवश्यकता नहीं रहती। कर्मों को नष्ट करने के उद्देश्य से तो ऊनोदरी तप करने वाला अगर अनशन तप करता है तो और भी अच्छी बात है।

जिस तप से मन, वचन और काय की शुद्धि होती है, वही तप श्रेष्ठ है। मन, वचन और काय की शुद्धि करने वाला तप ही वास्तविक तप है। कितनेक तपस्वी अधिक क्रोधी होते हैं। मगर जो प्रचंड क्रोध करता है कहा जा सकता है कि उसमें अभी तक तप नहीं है। तप

में क्रोध को स्थान नहीं हो सकता । जिस तप में क्रोध को स्थान नहीं है, वही तप वास्तविक है ।

जैनशास्त्र अनशन तप को महत्वपूर्ण स्थान देता है । महाभारत में भी अनशन तप की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है । कहा है—

तपो न अनशनात् परम् ।

अर्थात्—अनशन से श्रेष्ठ और कोई तप नहीं है ।

तप आत्मा को सब पापों से अलग रखता है । जो तप करता है वह अहिंसा का भी पालन करता है, सत्य का भी पालन करता है, अदत्तादानत्याग का भी पालन करता है और वही ब्रह्मचर्य आदि का भी पालन करता है । ब्रह्मचर्य पालने के लिए मानसिक वृत्तियों को वश करने की आवश्यकता है; मन की वृत्तियां अन्य उपायों से कदाचित् वश में न भी हों परन्तु अनशन तप से अवश्य वश में हो जाती हैं । गीता में कहा है—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥

अर्थात्—अनशन करने से विषय की वासना ही नष्ट हो जाती है और वासना के नष्ट हो जाने पर अब्रह्मचर्य या अन्यपापों की भावना ही किस प्रकार टिकी रह सकती है ।

तप करने वाले की वाणी पवित्र और प्रिय होती है । और जो प्रिय, पथ्य और सत्य बोलता है उसी का तप वास्तव में तप है । असत्य या कटुक वाणी कहने का तपस्वी

को अधिकार नहीं है। तपस्वी सत्य और प्रिय वाणी ही बोल सकता है। तपस्वी को भूल कर भी ऐसे वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे दूसरों को दुःख या भय उत्पन्न हो। तपस्वी तो भयभीत को भी अपनी अमृतमयी वाणी द्वारा निर्भय बना देता है। जब संयति राजा भयभीत हो गया था तब गर्दभालि मुनि ने उसे आश्वासन देते हुए कहा था-'पृथ्वीपति ! तू निर्भय हो। भय मत कर।' वह मुनि तपोधन थे, ऐसा शास्त्र का उल्लेख है। तपोधन दूसरों को निर्भय बनाता है और अपनी वाणी द्वारा किसी को भी भय नहीं पहुंचाता।

भयभीत व्यक्ति को निर्भय बनाते समय तपोधन मुनि भयभीत व्यक्ति के अपराधों की ओर नहीं देखते। उनका दृष्टिकोण भयभीत को निर्भय बनाना ही होता है। जो पुरुष तपस्वी को गालियां देता है या मारपीट करता है, उसे भी तपस्वी कटुक वचन कहकर भयभीत नहीं करता, प्रत्युत उसे अभयदान देकर निर्भय बनाता है। तपस्वी दूसरों द्वारा दिये हुए कष्टों को प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेता है मगर सामर्थ्य होने पर भी दूसरों को भयभीत नहीं करता यही तपस्वी की बड़ी विशेषता है। गजसुकुमार मुनि में क्या शक्ति नहीं थी ? फिर भी उन्होंने मस्तक पर धधकते हुए अंगार रखने वाले सोमल ब्राह्मण को वचन से भी भयभीत नहीं किया ! बल्कि उसे परम सहायक समझकर अभयदान दिया। इतना ही नहीं, गजसुकुमार के गुरु भगवान् नेमिनाथ ने श्रीकृष्ण से भी यही कहा था कि- हे कृष्ण ! उस पुरुष पर क्रोध मत करो। उसने तो राजकुमार मुनि को सहायता दी है। यद्यपि सोमल ब्राह्मण ने उनके शिष्य के माथे

पर दहकते हुए अंगारे रखे थे, फिर भी भगवान् ने उस पर क्रोध नहीं किया और श्रीकृष्ण को भी क्रोध करने से रोका इस प्रकार तपस्वी किसी को भयभीत नहीं करते और जो भयभीत नहीं होता है, उन्हें अपनी अमृतवाणी द्वारा आश्वासन देकर निर्भय बनाते हैं।

कहने का आशय यह है कि तपस्वी की वाणी में शुद्धि और पवित्रता होनी चाहिए। इतना ही नहीं, वरन् उनके मन में भी शुद्धि और पवित्रता होना आवश्यक है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि प्रकट में वाणी द्वारा कुछ और कहा जाये तथा मन में दुर्भावना रखी जाये। जो तपस्वी अपने मन और वचन में एकता नहीं रखता उसका तप प्रशस्त नहीं है। सच्चा तप तो वही है जिसके द्वारा मन शरद्-ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल बन जाता है। मन में जब रजोगुण या तमोगुण होता है तब मन निर्मल नहीं रह सकता। जिसका मन रजोगुण या तमोगुण से अतीत हो जाये अथवा त्रिगुणातीत होकर निर्मल हो जाता है तभी तपस्वी का मन फलता है अर्थात् तप का फल व्यवदान प्राप्त होता है। जैसे चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है और अपने इस कार्य में वह राजा-रंक का भेद नहीं रखता, अपना सौम्य प्रकाश सभी को समान रूप से प्रदान करता है उसी प्रकार जो महात्मा मन में किसी के प्रति, किसी भी प्रकार का भेद नहीं रखता-सभी को शक्ति पहुंचाता है वही कर्मों का नाश करके मुक्त हो सकता है। इस विषय में गीता में कहा है-

मन प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहम्।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

तप मानसिक वाचिक और कायिक के भेद से तीन

प्रकार का है। तीनों प्रकार से तप करने वाले का ही तप परिपूर्ण कहलाता है। पूर्ण तपस्वी का मन प्रसन्न और शांत रहता है।

किसी धन के अभिलाषी को अनायास ही धन मिल जाये तो वह कितना प्रसन्न होता है ? धन के अभिलाषी पुरुषों के लिए जो धन आनन्ददायक है वही धन साधुओं के लिए हानिकारक है। चोर का भय प्रायः धनिकों को होता है। राजा धनिकों को ही अधिक सताता है पर तपस्वियों को किसी का भय नहीं होता। इस प्रकार धन कोई उत्तम वस्तु नहीं है, फिर भी गृहस्थों को धन रखना ही पड़ता है, क्योंकि धन के बिना संसार-व्यवहार नहीं चलता। जैसे संसार-व्यवहार के लिए धन का होना आवश्यक समझा जाता है, उसी प्रकार साधुओं के लिए तप का होना अत्यन्त आवश्यक है। गृहस्थों का धन रुपया-पैसा है और साधुओं का धन तप है। साधुओं के लिए शास्त्र में कहा है-अणगारे तवोधणे।' अर्थात् साधु तपोधनी है। जो मुनि तपोधनी होता है उसका मन गंगा के जल के समान निर्मल होता है। गंगाजल में लोग गंदगी डालते हैं तो गंगा उस गंदगी को भी साफ कर देती है। इसी प्रकार तपोधनी मुनि गंदे मनुष्यों को बन्दे अर्थात् परमात्मा के भक्त बना देते हैं। तपोधनी का प्रशस्त मुख देखकर वैरी भी अपना वैर भूल जाता है। तपोधनी का मुख शांत, मन प्रसन्न और वचन मधुर होता है। तपस्वी की मुखमुद्रा पर शांति और सौम्यता का भाव टपकता रहता है। यह सौम्यभाव देखने मात्र से तपस्वी का तपस्तेज प्रतीत हो जाता है। तपस्वियों की प्रशांत मुख-मुद्रा से ही विदित हो जाता है कि इन महात्मा की तप

श्चरण आदि गुणसम्पत्ति कितनी है ! तपस्वियों की तपः समृद्धि किस प्रकार ख्याल में आ जाती है इस बात का वर्णन श्री उतराध्ययनसूत्र के बीसवें अध्ययन में किया गया है। अनाथी मुनि को देख राजा श्रेणिक कहने लगा—अहो ! इन मुनि में कैसी क्षमा है । कैसा इन्द्रियनिग्रह है ! मुनि कितने सौम्य हैं ! इनका कैसा तपस्तेज है ।

राजा ने अनाथी मुनि की क्षमा या तप साक्षात् नहीं देखा था । फिर भी उनकी मुखमुद्रा पर से ही अनुमान कर लिया था कि यह मुनि क्षमासागर और तपस्वी हैं। तपस्वी का मुख सदैव सौम्य रहता है ।

तपस्वी महात्मा या तो स्वाध्याय में या परमात्मा के ध्यान में लीन रहते हैं अथवा मौन का सेवन करते हैं। वे अधिक नहीं बोलते और जब बोलते हैं तो तप के लिए ही बोलते हैं अर्थात् दूसरों को निर्भय बनाने के लिए ही बोलते हैं । गर्दभालि मुनि ध्यान-मौन में थे, परन्तु संयति राजा को भयभीत देखकर उसे निर्भय बनाने के लिए ही वह बोले थे । इस प्रकार तपस्वी मन की गति को आत्मा का निग्रह करने की ओर झुकता है। वे अन्य कर्मों में मन का उपयोग नहीं करते । तपस्वियों के भाव उज्ज्वल होते हैं मलीन नहीं । तात्पर्य यह है कि जिस तप द्वारा मानसिक शुद्धि हो वही सच्चा तप है । कर्म की निर्जरा करने के लिए अर्थात् व्यवदान फल प्राप्त करने के लिए जीवन में तप को स्थान दो तो कल्याण होगा ।

साधुओं के लिए शास्त्र में कहा है—

संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरइ ।

अर्थात्—जो तप-संयम द्वारा आत्मा को प्रभावित करता हुआ विचरता है वही वास्तव में साधु है। ऐसा तपस्वी और संयमी साधु अपना और पर का कल्याण साधन कर सकता है।

पहले बतलाया जा चुका है कि जैनशास्त्र क्रियात्मक धर्म की प्ररूपणा करता है। इस प्रश्न से भी यह बात सिद्ध होती है। अतएव जो साधु-साध्वी, श्रावक श्राविका अपने को भगवान् के शासन का अनुयायी मानता हो, उसे तप और संयम की आराधना करनी चाहिए। तप और संयम से ही आत्मा का कल्याण होता है। अतः मन, वचन और काय से तप एवं संयम को अपने जीवन में प्रत्येक को स्थान देना चाहिए। ऐसा किये बिना आत्म-कल्याण नहीं होता।

कितनेक लोग दूसरे को कष्ट देने के लिए या अपना कोई स्वार्थ साधने के लिए भी तप करते हैं, मगर ऐसा तप इस तप में नहीं गिना जा सकता। यहां जिस तप का वर्णन किया गया है, वह कर्मों का क्षय करने के लिए ही है। वास्तव में सच्चा तप वही है जो दूसरों को कष्ट देने के लिए न किया गया हो, सिर्फ कर्मों की निर्जरा के उद्देश्य से किया गया हो।



# अट्ठाईसवां बोल

## व्यवदान

सम्यक्त्व में पराक्रम करने के लिए भगवान् ने ७३ बोल कहे हैं। उनमें से २७ बोलों का विवेचन विस्तारपूर्वक किया जा चुका है। २७-वें बोल तप के विषय में प्रश्न किया गया था कि—'तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?' अर्थात् हे भगवान् ! तपश्चर्या से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने फर्माया—'तवेणं जीवे वोदाणं जणयइ।' अर्थात्—तपश्चर्या करने से व्यवदान अर्थात् पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है।

अब गौतम स्वामी यह प्रश्न कर रहे हैं कि पूर्व संचित कर्मों का क्षय करने से, व्यवदान से—जीव को क्या लाभ होता है ?

### मूलपाठ

प्रश्न—वोदाणेणं ! भंते जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वोदाणेणं अकिरियं जणयइ, अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ २८ ॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—व्यवदान से, भगवान् ! जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—व्यवदान (पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने से)

जीवात्मा सब प्रकार की क्रिया से रहित होता है और सि
सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होकर सब
दुःखों का अन्त करता है।

## विवेचन

व्यवदान, तप का साक्षात् और तात्कालिक फल है। फल दो प्रकार का होता है। एक तो अनन्तर अर्थात् तत्काल मिलने वाला फल और दूसरा पारम्परिक फल अर्थात् परम्परा से मिलने वाला। व्यवदान तप का तत्काल मिलने वाला फल है। कार्य समाप्त होते ही जो फल मिलता है वह आनन्तर्य फल कहलाता है और तप का अनन्तर्य फल व्यवदान है। इस प्रकार पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होना तप का तत्काल मिलने वाला फल है।

तप का तात्कालिक फल व्यवदान अर्थात् संचित कर्मों का क्षय होना है, परन्तु पूर्व संचित कर्मों का क्षय करने से जीवात्मा को लाभ क्या होता है? यह प्रश्न भगवान् से पूछा गया है। गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—व्यवदान करने से जीव अक्रिय अवस्था प्राप्त करता है।

जहां कोई भी क्रिया करने का निमित्त नहीं रहता वह अक्रिय दशा कहलाती है। यह अक्रिय अवस्था प्राप्त हो जाना व्यवदान का फल है।

शास्त्र में शुक्ल ध्यान के चार भेद बतलाए गए हैं उनमें चौथा भेद अक्रिय अवस्था है। यह अक्रिय अवस्था मोक्षप्राप्ति के समय ही प्राप्त होती है। अक्रिय अवस्था प्राप्त करने से आत्मा, मन, वचन, काय के योग का निरोध

करके शल-पर्वत की भांति अडोलस्थिर अकंप बन जाता है। शास्त्र में कहा है आत्मा में जब तक कर्मों का प्रभाव बना रहता है तब तक आत्मा स्थिर नहीं हो सकता। कर्म जब नष्ट हो जाते हैं तभी आत्मा स्थिर और शांत बन सकता है।

समुद्र का पानी स्वभाव से स्थिर है, परन्तु पवन की प्रेरणा के कारण चंचल बन जाता है। पानी का स्वभाव तो स्थिर रहने का है, परन्तु पानी का भरा बर्तन आग पर रखने से, आग की प्रेरणा पाकर पानी उबलने लगता है। एंजिन में आग की प्रेरणा से ही पानी के द्वारा भाप उत्पन्न होती है। उसी भाप के कारण एंजिन दूसरे डब्बों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर झपटे के साथ ले जाता है और छोड़ आता है। इसी प्रकार रेलगाड़ी का सारा व्यवहार प्रेरणा से ही चल रहा है।

इसी प्रकार कर्म की प्रेरणा से आत्मा अपनी गाड़ी से चौरासी लाख जीवयोनियों में दौड़ता फिरता है। अब तो आत्मा को भव-भ्रमण की यह दौड़धाम बन्द करके अपने आपको 'स्थिर' करना चाहिए। आत्मा को स्थिर करने के लिए ही आत्मा को कर्म-रहित अक्रिय होने की आवश्यकता है।

जैसे पानी का स्वभाव उबलने का नहीं है, फिर भी आग की प्रेरणा से ही वह उबलता है, और यह प्रेरणा बाहरी होने के कारण रोकी भी जा सकती है। इसी प्रकार आत्मा को भवभ्रमण और अस्थिर रखने की प्रेरणा करने वाले कर्म हैं। कर्मों की यह प्रेरणा बाहरी और बनावटी होने के कारण रोकी जा सकती है। इसी कारण भगवान्

ने फर्माया है कि पूर्वसंचित कर्मों का क्षय (व्यवदान) करने से जीवात्मा अक्रिय दशा प्राप्त करता है और फल स्वरूप सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर शांत हो जाता है ।

भगवान् का यह कथन इतना सरल और सत्य है कि सभी की समझ में आ सकता है । इस सत्य कथन में किसी को संदेह करने की गुंजाइश नहीं है । शास्त्र का कथन है कि आत्मा में जो कुछ भी अस्थिरता पाई जाती है वह योग की चपलता की बदौलत ही है । योग का निरोध करने से आत्मा की अस्थिरता मिट जाएगी और आत्मा 'स्थिर' तथा 'शांत' हो जाएगा ।

भगवान् ने तो सब जीवात्मा को उद्देश्य करके आत्मा को स्थिर बनाने का उपदेश दिया है, परन्तु लोगों का आत्मा तो घुड़दौड़ के घोड़े की तरह दौड़धूप ही करना चाहता है । ऐसी दशा में तुम्हारे आत्मा को शांति किस प्रकार मिल सकती है ? घुड़दौड़ के घोड़े चाहे जितनी दौड़ लगावें आखिर उन्हें शांति तो तब ही मिल सकती है, जब वे दौड़ बन्द करके स्थिर होते हैं । हमेशा दौड़ता रहना न ठीक है और न शक्य ही है ।

इसी प्रकार आत्मा इस संसार में चाहे जितनी दौड़धूप करे मगर आखिर वह जब स्थिर होगा तभी उसे सच्ची शांति मिलेगी । जहां तक आत्मा स्थिर नहीं होता तब तक आत्मा को शांति मिलना संभव नहीं । व्यवहार दृष्टि से विचार करने पर भी यह बात पुष्ट होती है । तुम कार्यवश बाजार जाकर चाहे जितनी दौड़धाम करो, मगर घर आकर स्थिर और शांत हुए विना व्यावहारिक शांति भी

हीं मिल सकती। यही बात दृष्टि में रखकर बुद्धिमान रुषों ने कहा है कि मनुष्य में न तो ऐसा आलस्य ही होना ाहिए कि वह कोई काम ही पूरा न कर सके और न सी चंचलता ही होनी चाहिए जिसके कारण शान्ति ही सीब न हो सके। मनुष्य को मध्यम मार्ग पर चलने की ावश्यकता है।

भगवान् ने योगनिरोध करने की जो बात कही है, ह चौदहवें गुणस्थान की है, और अपने इस काल में ऊंचे ा ऊंचे छठे व सातवें गुणस्थान तक ही पहुंच सकते हैं। तएव हमें दौड़ने की ऐसी उतावली नहीं करनी चाहिए के रास्ते में कहीं ठोकर खाकर गिर पड़े, और ऐसी स्थिति ो जाए कि न इधर के रहें न उधर के रहें!

शास्त्र के इस कथन को अमल में किस प्रकार लाया ाये, यह एक विचारणीय प्रश्न है। यह बात तो हमें स्मरण ं रखनी चाहिए कि चौदहवें गुणस्थान में पहुंचने से अक्रिय शा प्राप्त होती है, अतएव एकदम ऐसा प्रयत्न नहीं करना ाहिए कि चौदहवें गुणस्थान की स्थिति प्राप्त करने के दले और नीचे गिरने की नौबत आ जाए।

किसी भी ऊंचे स्थान पर चढ़ने के लिए सीढ़ी-सीढ़ी ढना पड़ता है। अगर कोई मनुष्य एक साथ, छलांग मार कर दो-चार सीढ़ियां कूदना चाहता है तो इसके नीचे पड़ने की अधिक संभावना रहती है। इसलिए हमें ऐसी छलांग नहीं मारनी चाहिए कि इसी समय हम जिस गुणस्थान में हैं, उससे भी नीचे पड़ जाए! हम लोगों को तो आत्मा का विकास करना है। अगर हम आलसी होकर बैठे रहेंगे तो आत्मविकास कैसे कर सकेंगे? साथ ही एकदम छलांग मारकर ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करेंगे तो नीचे गिरने का भय है। अतएव मध्यम भाग का अवलम्बन करके क्रमपूर्वक

आत्मविकास करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है।

आजकल धार्मिक सुधार करने के लिए मध्यम श्रेणी के लोगों की अत्यन्त आवश्यकता है। हम साधुओं को पूर्व-काल के महात्माओं ने जो जवाबदारी सौंपी है, उसे एक किनारे रख देना और जो यम-नियम बताये हैं, इन्हें छोड़ बैठना हमारे-साधुओं के लिए उचित नहीं है।

दूसरी तरफ, तुम लोग जैसा जीवनव्यवहार चला रहे हो, वैसा ही चालू रखोगे तो धर्मोन्नति होना कठिन है। पहले के जमाने में जो कुछ होता था वह उस जमाने के मुताबिक होता था। पर अब ऐसा जमाना आगया है कि हमें समयानुसार धर्म के प्रचार करने का प्रयत्न करने की खास आवश्यकता है। पहले जमाने में आजकल की तरह धार्मिक पाठशालाएं नहीं थी। उस समय साधु श्रावकों को प्रतिक्रमण आदि का धार्मिक शिक्षण देते थे। इसके सिवाय उस समय आजकल की भांति व्यावहारिक शिक्षा भी नहीं दी जाती थी। अब लौकिक शिक्षा बढ़ गई है तो धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता भी बढ़ गई है। परन्तु तुम लोग तो ऐसे सब काम साधुओं की मार्फत ही कराना चाहते हो और कहते हो कि साधु यह काम नहीं करते तो समाज का खाते क्यों हैं? खाने के बदले वे हमारा क्या काम करते हैं? ऐसा कहना तुम्हारी भूल है। साधु तुम्हारे भरोसे नहीं हैं। अपने संयम का और अपने पूर्वजों द्वारा बांधे हुए नियमों का पालन करते हुए चाहे जहां से अन्न-पानी ला सकते हैं। इसलिए तुम साधुओं के सिर ही सारी जवाबदारी मत मढ़ो। विचार करो कि यह उत्तरदायित्व तुम्हारा भी है। तुम हमारे माथे उत्तरदायित्व मढ़ते हो मगर हम लोग क

कहां पहुंचे ? आत्मसुधार और धर्मसुधार के लिए तो साधु यथाशक्य प्रयत्न करते ही हैं। परन्तु तुम लोग जब विदेश जाते हो तो क्या अपने साथ अपना धर्म भी वहां ले जाते हो ? कहा जाता है कि ऐसा करने में धार्मिक बाधा आती है। इसका उत्तर यह है कि ऐसा कहने वाला भूल करता है। चम्पा का पालित श्रावक समुद्र यात्रा करके पिहुंड नगर गया था। उनकी इस समुद्रयात्रा में क्या कुछ शास्त्रीय विरोधबाधा थी ? आज शास्त्र का रहस्य पूरी तरह समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता, शास्त्र का सिर्फ दुरुपयोग किया जाता है।

जैनशास्त्र में ऐसी कोई संकीर्णता नहीं है। इतना ही नहीं, संसार में जो संकीर्णता फैली हुई थी जैनशास्त्रों ने उसे हटाया है और बताया है कि समुद्रयात्रा करना ऐसा कोई भयंकर पाप नहीं है। जिस पालित श्रावक ने समुद्रयात्रा की थी, उसके विषय में शास्त्र में कहा गया है कि पालित श्रावक श्रावकों में पंडित और जैनशास्त्रों में कुशल था। उस पालित श्रावक की समुद्रयात्रा में जो धर्म बाधक नहीं बना, वही धर्म आज बाधक कैसे हो सकता है ? अतएव धर्म समुद्रयात्रा में बाधक है, ऐसा बहाना न करके जहां कहीं तुम जाओ, अपनेधर्म को भी साथ लेते जाओ। सदैव ध्यान रखो कि हमारा धर्म हमारे साथ है और हमारी यात्रा का ध्येय धर्म का प्रचार करना है। तुम यही समझो कि हम अपने धर्म का प्रचार करने के लिये ही विदेश में आये हैं। क्या इस प्रकार धर्म का प्रचार करते रहने से तुम्हारे किसी व्यावहारिक काम में बाधा खड़ी होती हैं ? आर्यों के विषय में कहा जाता है कि आर्य लोग जब भारत में आये

थे तब वे अपना धर्म और अपनी संस्कृति भी साथ लाए थे। जब आर्य लोग अपना धर्म और अपनी संस्कृति स लाऐ थे तो फिर तुम लोग अपने जैन धर्म को और अप जैन-संस्कृति को विदेश में साथ क्यों नहीं ले जा सकते तात्पर्य यह है कि धर्म प्रचार के विषय में निष्क्रिय हो बै से काम नहीं चल सकता। श्रावकों को भी अपना उचि भाग अदा करना चाहिए।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि व्यवदान से अथ पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने से जीव को क्या ला होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है—हे गौतम प्रथम तो पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होना ही अत्यन्त कठि है, परन्तु जब कर्मों का क्षय हो जाता है तो जीवात्मा क अक्रिय अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह अक्रिय अवस्थ प्राप्त होने से आत्मा की अस्थिरता दूर हो जाती है और पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है।

भगवान् के इस उत्तर से यह बात निश्चित हो जाती है कि संसार में जितनी भी चंचलता प्रतीत होती है, वह सब कर्मों की उपाधि के कारण ही है। यद्यपि चंचलता के कारण संसार है और संसार के कारण चंचलता है, तथापि प्रत्येक आत्महितैषी व्यक्ति को संसार के मायाजाल से मुक्त होने का और आत्मा को स्थिर करके शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। जन्म-मरण करते-करते आत्मा ने अनन्तकाल व्यतीत किया है, फिर भी उसे शान्ति नहीं मिली। वास्तव में जब तक आत्मा में चंचलता है, स्थिरता

नहीं आई है, तब तक आत्मशान्ति नहीं मिल सकती। आत्मशान्ति प्राप्त करने के लिए आत्मा को स्थिर करना चाहिए।

जो आत्मा संसार में ही भ्रमण करना चाहता है उसके लिए तो यह धर्मोपदेश भैंस के आगे बीन बजाने के समान है, परन्तु जो जीवात्मा संसार की आधि, व्याधि और उपाधि से व्याकुल होकर संसार के मायाजाल से मुक्त होनें की अभिलाषा रखते हैं, उसके लिए तो यह शान्ति का मार्ग है। आत्मा को स्थिर करना ही जन्म-मरण से मुक्त होवें का और आत्मशान्ति प्राप्त करनें का राजमार्ग है।

हमारे सामनें दो मार्ग हैं, संसारमार्ग और मोक्षमार्ग। इन दो मार्गों में से आत्मा जिस मार्ग पर जाना चाहे, जा सकता है। संसारमार्ग पर जाने से भवभ्रमण बढ़ता है और मोक्षमार्ग पर चलने से भवभ्रमण रुकता है। संसारमार्ग वन्धन का कारण है और मोक्षमार्ग मुक्ति का कारण है। शास्त्रकारों तो प्रत्येक जीवात्मा को मोक्ष का ही मार्ग बतलाते हैं, क्योंकि मोक्ष के मार्ग पर चलने से ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर शान्त बनता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होने के लिए आत्मा को सर्वप्रथम स्थिरात्मा बनने का आवश्यकता है। स्थिर हुए बिना आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती। वास्तव में आत्मा स्वभाव से तो स्थिर ही है, परन्तु कर्मरूपी अग्नि की प्रेरणा से वह अस्थिर बन गया है। कभी उच्च कर्मों का उदय होता है तो कभी-कभी नीच कर्मों का। अर्थात् कभी पुण्य का और कभी पाप का उदय होता रहता है। इसी कारण

आत्मा अस्थिर बन जाता है । आत्मा को अस्थिर और अशान्त बनाना कर्मों का मुख्य काम है। पुण्य और पाप दोनों कर्मों के ही विकार (फल) हैं। पुण्य, कर्मों का शुभ परिणाम है और पाप, अशुभ कर्मों का परिणाम है। इस प्रकार पुण्य-पाप दोनों कर्मों की ही संतान हैं। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि आत्मा को पुण्य और पाप रूप दोनों प्रकार के कर्मों से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

पानी में चाहे शक्कर डाली जाए चाहे कोई कटुक चीज डाली जाये, पानी तो दोनों के डालने से विकृत होता ही । यह बात दूसरी है कि शक्कर डालने से पानी में जो विकृति आती है वह शुभ विकृति है और कटुक चीज के संयोग से होने वाली विकृति अशुभ है । परन्तु यह दोनों वस्तुएं विकार-जनक होने के कारण उनसे पानी तो अशुद्ध हुआ ही । पानी में जब बाहर की कोई भी वस्तु न मिलाई जाये, तभी पानी का मूल स्वरूप देखा जा सकता है। इसी प्रकार पुण्यकर्म शुभ दशा है और पापकर्म अशुभ दशा है। परन्तु इन दोनों प्रकार के शुभाशुभ कर्मों द्वारा आत्मा तो विकृत होता ही है । शुभाशुभ कर्मों की इस विकृति से आत्मा जब छुटकारा पाता है तभी वह अपने असली स्वरूप में स्थिर होता है । इसी कारण शास्त्रकारों ने पुण्य और पाप दोनों प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को अन्त में त्याज्य बतलाया है ।

जीवात्मा में जब तक बालभाव है—अज्ञान दशा है—तब तक वह शुभ कर्मों को शुभ समझता और उसी में आनन्द मानता है परन्तु कर्म चाहे वह शुभ ही क्यों

। हो, आत्मा को तो अशुभ ही बनाता है। जो लोग अपने आत्मा को शुद्ध करना चाहते हैं उन्हें तो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का त्याग करना पड़ेगा और आत्मा को कर्मरहित बनाना पड़ेगा।

व्यवदान का फल बतलाते हुए भगवान् ने शुक्लध्यान की चौथी अवस्था-अक्रिय दशा की बात कही है। अक्रिय दशा का अनुभव मोक्ष जाने के समय ही होता है। मैं अब तक शुक्लध्यान की चौथी अक्रिय अवस्था का अनुभव नहीं कर सका हूं, परन्तु जो महापुरुष तेरहवें गुणस्थान में पहुंच कर चौदहवें गुणस्थान की स्थिति प्रत्यक्ष देख रहे हैं, उनका कहना है कि अक्रियदशा प्राप्त होते ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। चौदहवें गुणस्थान की स्थिति, 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय की है! इतने अल्प समय में आत्मा अक्रिय होने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यद्यपि मोक्ष जाने में आत्मा को इतना ही समय लगता है, तथापि मोक्ष-प्राप्ति के लिए अभ्यास-प्रयत्न पुरुषार्थ तो पहले से ही करना पड़ता है। जैसे निशाना ताकने में अधिक समय नहीं लगता, मगर निशाना ताकने का अभ्यास करने में बहुत समय लगता है और समय तक अभ्यास करने के बाद ही ठीक निशाना साधा जा सकता है, इसी प्रकार मोक्ष तो थोड़े समय में हो जाता है परन्तु उसके लिए पहले अधिक अभ्यास करना आवश्यक है। राधावेध करने में बहुत समय नहीं लगता है। इसी प्रकार मोक्ष तो पांच लघु अक्षर उच्चारण करने जितने काल में हो जाता है। परन्तु इस लक्ष्य को साधने के लिए पहले बहुत समय अभ्यास करना पड़ता

है। शास्त्रकार मोक्षरूपी लक्ष्य को साधने का ही उपदे॰ देते हैं। इस उपदेश का ध्यान रखते हुए मोक्ष साधने क॰ अभ्यास करते रहो। अगर अभ्यास और प्रयत्न ठीक तर॰ किया जाएगा तो कार्य सिद्ध होते देर नहीं लगेगी।

प्रत्येक लक्ष्य को साधने का अभ्यास या प्रयत्न उप॰ युक्त साधनों द्वारा ही करना चाहिए विपरीत साधनों द्वार॰ नहीं। विपरीत साधनों द्वारा अभ्यास करने से कार्य सि॰ होने के बजाय बिगड़ जाता है।

भगवान् कहते हैं—तप का फल व्यवदान है औ॰ व्यवदान का फल अक्रिया है। अक्रिया दशा प्राप्त होने प॰ ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकता है। अक्रिय दश॰ को प्राप्त होने पर आत्मा जब सिद्ध हो जाती है और सि॰ शब्द में दूसरे सब शब्द गतार्थ हो जाते है तो फिर शास्त्र॰ कारों ने 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध', 'मुक्त' आदि शब्द॰ का प्रयोग किस प्रयोजन से किया है? ऐसा करने में उनक॰ क्या आशय था? इस बात पर यथामति और यथाश॰ विचार करना आवश्यक है।

संसार में सिद्धि का स्वरूप भिन्न-भिन्न दृष्टियों॰ माना जाता है। कुछ लोग दीप-निर्वाण के समान अर्थ॰ दीपक बुझ जाने के समान सिद्धि का स्वरूप मानते हैं॰ उनका कहना है कि जैसे बुझ जाने के बाद दीपक कुछ॰ नहीं रहता, उसी प्रकार आत्मा सिद्ध होने के बाद कुछ॰ नहीं रहता। परन्तु जैन शास्त्र में सिद्धि का ऐसा स्वरू॰ नहीं स्वीकार किया गया है। अतः दीप निर्वाण के सम॰ सिद्धि का स्वरूप मानने वालों का निषेध करने के लिए॰

'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का उपयोग किया है।✽

---

✽ कुछ दार्शनिकों की यह मान्यता है कि सिद्धि अवस्था में आत्मा के सभी विशिष्ट गुण नष्ट हो जाते हैं। आत्मा का अस्तित्व तो रहता है। मगर उसकी 'बुद्धि' अर्थात् ज्ञान का सर्वथा नाश हो जाता है। मतलब यह हुआ कि सिद्धिदशा में आत्मा पत्थर की तरह जड़ हो जाता है। 'सिद्धि' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करके शास्त्रकारों ने इस भ्रम का निवारण कर दिया।

आत्मा के विकासक्रम के अनुसार आत्मा पहले 'बुद्ध' होता है और फिर सिद्ध होता है। तेरहवें गुणस्थान में 'बुद्ध' हो जाता है। मगर 'सिद्ध' नहीं होता। सिद्धदशा उसके बाद प्राप्त होती है। इस क्रम के अनुसार पहले 'बुद्ध' और फिर 'सिद्ध' कहना चाहिए था, मगर शास्त्रकारों ने पहले 'सिद्ध' और बाद में 'बुद्ध' कहा है। इसका कारण भी यही है। वैशेषिकदर्शन सिद्ध होने से पहले तो आत्मा को 'बुद्ध' (ज्ञानी) मानता है मगर सिद्ध होने के बाद बुद्ध नहीं मानता। सिद्ध होने पर बोध नष्ट हो जाता है। मगर शास्त्रकार 'सिद्ध' शब्द से पहले 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करते तो पाठकों को संदेह हो सकता था कि सिद्ध होने से पहले तो बुद्ध भले हो मगर 'सिद्ध' होने के बाद 'बुद्ध' रहता है या नहीं ? इस शंका समाधान करने के लिए पहले सिद्ध और फिर बुद्ध शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह निकला कि सिद्ध होने के बाद भी आत्मा बुद्ध रहता है।

—सम्पादक

बुझा हुआ दीपक न अंधकार फलाता है, और न प्रकाश करता है । अगर दीपक की तरह आत्मा भी सिद्ध होने के बाद अस्तित्व में न रहे और नष्ट हो जाए तो फिर आत्मा की ऐसी सिद्धि किस काम की ? आत्मा सिद्ध होने पर अस्तित्व में ही न रहे वरन् दीपनिर्वाण की तरह नष्ट हो जाये, ऐसा मान लिया जाये तो अनेक दोष आते हैं । इन दोषों का परिहार करने के लिए शास्त्र में 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करके बतलाया गया है कि आत्मा सिद्ध होने पर बुद्ध भी होता है अर्थात् सर्वज्ञानी और सर्वदर्शी बन जाता है ।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि जो आत्मा सिद्ध हो जाता है, उस सिद्धात्मा के लिए क्या करना शेष रह जाता है ? या सिद्ध होने के बाद 'बुद्ध' होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पूर्णज्ञानी होने के बाद ही सिद्ध दशा प्राप्त होती है परन्तु जैसे अभ्यास करने का प्रमाणपत्र मिलने पर ही अभ्यास का महत्व बढ़ता है, उसी प्रकार पूर्णज्ञानी होने का प्रमाणपत्र सिद्धी प्राप्त होने पर मिलता है । जब अभ्यास करने का प्रमाणपत्र मिल जाता है तभी जन समाज में अभ्यास की कीमत आंकी जाती है । इसी प्रकार सिद्ध होने से पहले पूर्णज्ञान रहता ही है मगर उनका प्रमाणपत्र सिद्धी प्राप्त होना है । शास्त्र में कहा है कि बुद्ध होने से कोई नवीन ज्ञान नहीं आ जाता । ज्ञान तो तेरहवें गुणस्थान से ही होता है, परन्तु सिद्ध होने के

बाद में वह नष्ट नहीं हो जाता। यह बताने के लिए 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' होने का भी कथन किया गया है।

कुछ लोगों का कहना है कि सिद्ध आत्मा भी संसार में अवतार धारण करता है—जन्म लेता है। एक बार सिद्ध हो जाने पर वह आत्मा जब संसार में किसी प्रकार की विपरीतता देखता है तब राग-द्वेष से प्रेरित हो कर फिर संसार में अवतार लेता है। भगवान् महावीर ने जो सिद्धि कही है, वह इस प्रकार की नही है। शास्त्रकार तो स्पष्ट कहते हैं कि जो आत्मा सिद्ध हो जाता है, वह जन्म-मरण से मुक्त भी हो जाता है। यही बात विशेष स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्दों के साथ 'मुक्त' शब्द का भी प्रयोग किया है। गीता में भी कहा है—

यद गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।

अर्थात्—जहां जाने के बाद पीछे लौटना नहीं पड़ता, वही मेरा धाम है।

गीता में तो ऐसा कहा है, फिर भी उसके अर्थ का ख्याल न करके कहा जाता है कि सिद्धि होने के बाद भी आत्मा जगत् की विपरीतता दूर करने के लिए संसार में जन्म धारण करता है। इस मान्यता का निषेध करने के लिए ही शास्त्रकारों ने 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्दों के साथ 'मुक्त' शब्द का प्रयोग करके स्पष्ट कर दिया है कि सिद्ध हुए आत्मा को संसार में अवतार या जन्म नहीं लेना पड़ता।

इस कथन पर यह आशंका हो सकती है कि इसी प्रकार जीव सिद्ध होते रहेंगे तो एक दिन ऐसा भी आ सकता

है, जब इस संसार में एक भी जीव बाकी नही रहेगा। कुछ लोगों को यह भय लगा है कि संसार कहीं जीवों से एकदम खाली न हो जाये ! इस कारण वे कहते हैं कि जीवात्मा थोड़े समय तक सिद्धिस्थान में रह कर फिर संसार में लौट आता है। मगर यह कल्पना मिथ्या है और भ्रम उत्पन्न करने वाली है। तुम लोग भी शायद यही सोचते होंगे कि जीव अगर इसी तरह मुक्त होते रहे और वापस न आये तो कभी न कभी सारा संसार जीवों से शून्य हो जायेगा। परन्तु इस बात पर यदि गहरे उतर कर बुद्धि पूर्वक विचार करोगे तो तुम्हें यह लगे बिना नहीं रहेगा कि यह कल्पना खोटी और भ्रामक है। जिन महात्माओं ने सिद्धि प्राप्त की है और सिद्धि का स्वरूप देखा है-जाना है उन महात्माओं ने काल को भी देखा और जाना है, उसके बाद ही उन्होंने अपना निर्णय घोषित किया है कि संसार कभी जीवरहित हो ही नहीं सकता। ज्ञानी महात्माओं के इस कथन पर तुम स्वयं भी गहरा विचार करोगे तो इस कथन को समझे बिना नहीं रह सकते और तुम्हारा सारा संदेह मिट जाएगा।

तुम जरा काल के विषय में विचार करो। क्या भूतकाल का कहीं अन्त मालूम होता है ? तिथि, मास, वर्ष वगैरह बहुत बार व्यतीत हो चुके। सब की गणना करो तो भी भूतकाल का अन्त नहीं आ सकता। उसे अनन्त कहना पड़ेगा। अपने वर्तमान जीवन का अन्त तो आ जायेगा मगर भविष्यकाल का अन्त नहीं आ सकता। इस प्रकार जब भूतकाल और भविष्यकाल का अन्त नहीं तो उन कालों में होने वाले पदार्थों का अन्त कैसे हो सकता है ? संसार

के समस्त काम काल के साथ ही होते हैं। अतएव ज्ञानी आत्माओं ने भूतकाल और भविष्यकाल को देखकर कहा है कि जीव, काल की अपेक्षा अनन्तगुण अधिक है। अतएव संसार का अन्त नहीं आ सकता तथा किसी भी काल में वह जीवों से रहित भी नहीं हो सकता। यही बात स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देता हूँ—

मान लो किसी कोठरी में श्रीफल भरे हैं और दूसरी कोठरी में खसखस के दाने भरे हैं। दोनों कोठरियां लम्बाई-चौड़ाई-ऊंचाई में बराबर हैं। मगर श्रीफल परिमाण में बड़े होने से, गिनती के लिहाज से, खसखस के दानों की अपेक्षा बहुत थोड़े हैं। अब अगर दोनों कोठरियों में से, क्रमशः एक श्रीफल और एक खसखस का दाना बाहर निकाला जाये तो पहले कौन-सी कोठरी खाली होगी ? श्रीफल की कोठरी का पहले खाली होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार काल श्रीफल के बराबर है और जीवात्मा खसखस के दानों के बराबर है। जब काल का ही अन्त नहीं तो जीवों का अन्त कैसे आ जाएगा ?

इस प्रश्न के विषय में पूज्य श्रीलालजी महाराज बहुत बार फर्माया करते थे कि रुपयों का चाहे जितना ऊंचा ढेर करो, क्या आकाश का कभी अन्त आ सकता है ? रुपयों का ढेर करने से आकाश का उतना हिस्सा अवश्य रुकता है परन्तु उससे आकाश का अन्त नहीं आ सकता। कारण यह है कि आकाश अनन्त है। इसी प्रकार जीवात्मा कितने ही सिद्ध हों, मगर संसार का अन्त नहीं आ सकता। यह बात श्रद्धागम्य है। तुमने भूतकाल और भविष्य को अनन्त

ते हैं । वास्तव में पदार्थों में सुख नहीं है । सच्चा सुख आत्मा में ही भरा है । पदार्थों में सुख मानना तो उपाधि । इस उपाधि से मुक्त होकर आत्मा में रहे हुए सुख की ध और उसी का विकास करना चाहिए ।

आत्मा में रहे हुए अनन्त सुख को विकसित करना सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होना है । संसार की उपाधि से टकारा पाने के लिए अक्रिय बनने की परमात्मा से प्रार्थना रनी चाहिए । संसार के समस्त दुःखों का अन्त अक्रिया होता है, और अक्रिय दशा पूर्वसंचित कर्मों का नाश रने से प्राप्त होती है । अतः प्रत्येक आत्महितैषी को तप रा पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करके अक्रिय दशा प्राप्त करने प्रयत्न करना चाहिए ।

व्यवदान के फल के विषय में विचार करते हुए यह श्न उपस्थित होता है कि तप द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का ाश होता है, यह बात सुनिश्चित है, तो फिर व्यवदान ा फल पूछने की क्या आवश्यकता थी ?

टीकाकार यह प्रश्न खड़ा करके उसका समाधान करते ए कहते हैं—सूत्र की बात गहन है । सूत्र में किसी जगह तिदेश द्वारा और किसी जगह साक्षात् रूप से विषय का थन किया गया है । अर्थात् कोई बात विस्तार से और ोई बात संक्षेप से बतलाई है । ज्ञानीजनों को जहां जैसा उचित प्रतीत हुआ, उन्होंने वहां वैसा ही कथन किया है ।

अतिदेश का साधारणतया अर्थ है–गौण बात करना । अतिदेश द्वारा कही जानी वाली बात गौण होती है और ाक्षात् कही जाने वाली मुख्य ! उदाहरणार्थ किसी सेठ ने अपने

गई है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कोई बात एकार्थ नाना घोषों से भी कही जाती है । तद्नुसार यहां व्यवदान का फल भी एकार्थ नाना घोष से कहा है। सिद्ध होने वाला व्यक्ति बुद्ध भी हो जाता है, मुक्त भी हो जाता है, परिनिर्वाण भी पा लेता है और सब दुखों का अन्त भी कर डालता है । ऐसा होने पर भी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, आदि शब्दों को जुदा-जुदा कहने का कारण, मेरी समझ से, यह मालूम होता है कि जैनशास्त्रानुसार सिद्ध होने वाला बुद्ध भी होता है । कुछ लोग मोक्ष में अज्ञान-अवस्था बतलाते हैं । जैनशास्त्र इस मान्यता से सहमत नहीं है । मोक्ष में अज्ञान-अवस्था मानने वालों के शब्दघात से अपना पक्ष सुरक्षित रखने के लिए ही 'सिद्ध' कहने के ही साथ 'बुद्ध' होना भी कहा गया है । वास्तव में तो सिद्ध होना और बुद्ध होना एक ही बात है । यही बात यहां नाना घोष से प्रकट की गई है ।

किसी-किसी का कथन है कि सिद्ध को ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक ही साथ होता है परन्तु आचार्यों का मत यह भी है कि सिद्धों में ज्ञान और दर्शन का एक साथ उपयोग नहीं रहता । जब ज्ञान का उपयोग होता है तब दर्शन का उपयोग नहीं रहता और जब दर्शन का उपयोग होता है तब ज्ञान का उपयोग नहीं रहता । यह विषय चर्चास्पद है । अगर किसी चर्चास्पद विषय से हमारी बुद्धि काम न दे सके तो 'केवलिवाक्यं प्रमाणं' कहकर संतोष मानना चाहिए । परन्तु जो बात शास्त्र में स्पष्ट रूप से

कही गई हो, उसे तो उसी रूप में मानना चाहिए। सिद्ध के ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक साथ होता है या नहीं, इस विषय में पन्नवणासूत्र में कहा गया है—

**केवली णं भंते ! जं समयं जाणइ न तं समयं पसाइ ! जं समयं पासाइ न तं समय जाणइ ? हंता, गोयमा !**

अर्थात्—गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछा—भगवन् ! केवली का जब ज्ञानोपयोग होता है तब दर्शनोपयोग नहीं होता ? और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं होता ?

उत्तर में भगवान् ने कहा—हां, गौतम ! ऐसा ही है।

शास्त्र में इस वचन के प्रमाण से हमें ऐसा मानना चाहिए कि सिद्ध को जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञान उपयोग नहीं होता और जब ज्ञान का उपयोग होता है तब दर्शन का उपयोग नहीं होता।

कहने का आशय है कि सिद्ध होने पर ज्ञान-विज्ञान नष्ट नहीं हो जाता, यह प्रकट करने के लिए ही 'सिद्ध' के साथ 'बुद्ध' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्द के साथ अन्य शब्दों का प्रयोग किस प्रयोजन से किया गया है, इस सम्बन्ध में साधारण विचार किया जा चुका है। यहां उस पर थोड़ा और विचार कर लेना है।

मुक्ति के विषय में भी कुछ लोगों की अलग मान्यता है। मुक्ति के विषय में जो विपरीत अर्थ किया जाता है उससे अपने कथन को पृथक् रखने के लिए ही सिद्ध और बुद्ध के साथ 'मुक्त' शब्द का व्यवहार किया गया।

मनुष्य का जीवन न केवल बड़े हथियार से ही, वरन् छोटी-सी सुई से भी नष्ट हो सकता है, उसी प्रकार साधारण बात की भिन्नता से भी सिद्धान्त में अन्तर पड़ जाता है और उसका खंडन हो सकता है जब कुछ लोग किसी शब्द का अर्थ भिन्न प्रकार का अथवा उलटा करने लगते हैं तब विपरीत अर्थ का निवारण करके सच्चा अर्थ बतलाना ज्ञानियों का कर्त्तव्य हो जाता है। इसी कर्त्तव्य का पालन करने के लिए लिए शास्त्रकारों ने सिद्ध और बुद्ध कहने के साथ मुक्त शब्द का भी प्रयोग किया है। कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि आत्मा को कर्मबन्ध ही नहीं होता। जैनशास्त्र यह बात नहीं मानते। जैनशास्त्र कहते हैं—अगर आत्मा को कर्मबन्ध न होता तो वह मुक्त किस प्रकार हो सकता है? आत्मा मुक्त होता है, तो वह पहले कर्मबन्धन से बन्धा हुआ होना ही चाहिए। यही बात स्पष्ट करने के लिए 'मुक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार परिनिर्माण को प्राप्त होने और सिद्ध में कोई अन्तर नहीं। परन्तु कुछ लोग निर्वाण का अर्थ निराला ही करते हैं। बौद्ध लोग निर्वाण का अर्थ दीप-निर्वाण के समान करते हैं। अर्थात जैसे दीपक बुझ जाने के बाद वह कुछ नहीं बच रहता, इसी प्रकार सिद्ध होने पर आत्मा नहीं बचता! जैनशास्त्र इस मान्यता से सहमत नहीं है। अतः बौद्धों के कथन को अमान्य प्रकट करने के लिए ही शास्त्रकारों ने सिद्ध, बुद्ध और मुक्त शब्द के साथ निर्वाण शब्द का भी प्रयोग किया है।

निर्वाण शब्द के बाद शास्त्रकारों ने कहा है—'सब दुःखों का अन्त करता है।' सिद्ध होने में और सब दुःखों

का अन्त करने में तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है, फिर भी दूसरे लोगों की गलत मान्यता का निवारण करने के लिए ही सब दुःखों का अन्त करने का भी विधान किया है। जैनशास्त्र कर्म को ही दुःख मानता है। श्रीभगवतीसूत्र में गौतम स्वामी और भगवान् के बीच इस विषय में प्रश्नोत्तर हुआ है। वह इस प्रकार है—

दुक्खी णं भंते ! दुक्खेणपुट्ठे, किं अदुक्खी दुक्खेण पुट्ठे ?

अर्थात्—हे भगवन् ! दुखी दुःख से स्पष्ट होता है, अथवा अदुखी दुःख से स्पृष्ट होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—दुःखी ही दुःख से स्पृष्ट होता है। अदुःखी दुःख से स्पृष्ट नहीं होता।

इस प्रकार दुःखी को ही दुःख का स्पर्श होता है। यहां सब दुखों का अन्त करने के लिए कहा गया है, उसका फलितार्थ भी कर्म से रहित होना है। सब कर्मों को नष्ट कर देना अर्थात सब दुःखों का अन्त कर देना। यहां दुःख शब्द से कर्म लेना चाहिए। दुःखों का अन्त होने का अर्थ कर्मों का अन्त होना है। इसीलिए श्रीभगवतीसूत्र में चौवीस दण्डक के विषय में जो प्रश्नोत्तर किये गए हैं, उनमें भी यह कहा गया है कि सर्वार्थसिद्ध विमान के देव भी दुःख से स्पृष्ट होते हैं, क्योंकि उनमें भी अभी तक कर्म शेष हैं। और जिनमें भावकर्म शेष नहीं रहते वे दुःख से स्पृष्ट नहीं होते।

कहने का आशय यह है कि सिद्ध होने के साथ आत्मा कर्मरहित हो जाता है और सब दुःखों से मुक्त हो जाता

है। यहां एक प्रश्न यह रह जाता है कि कर्म आत्मा के साथ किस प्रकार लगते हैं? कर्म स्वयं आत्मा के साथ लगते हैं या ईश्वर की प्रेरणा से? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—अगर ईश्वर की प्रेरणा से कर्मों का आत्मा के साथ लगना मान लिया जाये तो ईश्वर के स्वरूप में अनेक विकृतियां और बाधाएं उपस्थित होती हैं। उदाहरणार्थ—एक आदमी नदी में डूब रहा हो और उसे बाहर निकाल सकने वाला कोई दूसरा मनुष्य खड़ा-खड़ा देख रहा हो, तो क्या उसे दयालु कहा जा सकता है? जब ऐसे मनुष्य को भी दयालु नहीं कहा जा सकता तो फिर परम-दयालु कहलाने वाला परमात्मा क्या जीवों को कर्मबन्धन से बांध कर संसार सागर में डूबोयेगा? वास्तव में ईश्वर कर्त्ता नहीं है और न वह किसी जीव को कर्म-बन्धन से बान्धता है। गीता में भी कहा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

अर्थात्—प्रभु न लोक का कर्त्ता और न कर्मों को त्पन्न करता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अगर ईश्वर र्मों की प्रेरणा नहीं करता तो कर्म आत्मा के साथ किस कार लगते हैं? इस प्रश्न के उत्तर के लिए एक उदाहरण ीजिए। कल्पना कीजिए, एक घड़ा तेल से भींगा हुआ है, सरा पानी से भींगा है और तीसरा घड़ा बिलकुल कोरा। रज को ज्ञान नहीं होता कि मैं किस घड़े के साथ किस कार लगूं? फिर भी जो घड़ा तेल से भींगा है उसमें रज धिक चिपकेगी। जो घड़ा पानी से भींगा है उस पर रज

चिपकेगी तो सही, पर तेल के घड़े के बराबर नहीं। और कोरे घड़े पर रज गिरेगी मगर हवा से जैसे गिरेगी वैसे ही में उड भी जाएगी। इसी प्रकार कर्मरज चौदह राजू लोक में सर्वत्र भरी पड़ी है। परन्तु भावकर्मों में जितना चिकनापन होगा, उसी के अनुसार कर्म आत्मा के साथ लगेगा। अगर भाव-कर्म में चिकनापन अधिक होगा तो कर्म अधिक लगेंगे, अगर चिकनापन कम होगा तो कर्मवर्गणा कम चिपकेगी। अगर आत्मा कोरे घड़े के समान भावकर्म के चिकने से रहित होगा तो उसमें राग-द्वेष न होंगे तो कर्म चिपकेंगे ही नहीं।

जब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कर्म की व्यवस्था यदि इस प्रकार की है तो कर्मों को उदय में आने का और सुख-दुःख रूप में परिणत होने का ज्ञान किस प्रकार होता है? इसका उत्तर यह है कि क्या दवा को ऐसा ज्ञान है कि मैं पेट में जाकर इस प्रकार फेरफार करूं? क्या दूध जानता है कि पेट में जाकर मैं इस प्रकार रसभाग और खलभाग में परिणत हो जाऊंगा? ज्ञान न होने पर भी दूध और दवा अपना-अपना गुण बतलाते हैं या नहीं? किसी भूखे आदमी को दूध पिलाया जाये तो दूध पीते ही उसकी आंखों में कैसा तेज आ जाता है! दूध और दवा को इस बात का ज्ञान नहीं है फिर भी उसमें शक्ति अवश्य है। इसी प्रकार कर्म को यह ज्ञान नहीं है कि मुझमें कैसी शक्ति विद्यमान है, परन्तु जब कर्म आत्मा को लगते हैं तब वे अपना गुण प्रकट करते ही हैं। भाव-कर्म के चिपकवेपन के अनुसार कर्म उदय में आकर सुख या दुःख देते हैं।

कहने का आशय यह है कि दुखी ही दुख से स्पृष्ट होता है। कुछ लोगों का कहना कि आत्मा को कर्मबन्धन ही नहीं होता, परन्तु जैनशास्त्र को यह कथन मान्य नहीं है। इसीलिए अर्थात् इस कथन का निषेध करने के लिए सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा परिनिर्वाण होने के साथ ही सब दुखों के अन्त होने का कथन किया गया है।

कुछ लोग दुखों का अन्त करने का अर्थ, बेड़ी काटने के साथ पैर को भी काट डालने के भावार्थ में करते हैं। उनका कहना है कि दुःखों के साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है मगर यह बात मिथ्या है। आत्मा दुःखों का अन्त होने पर सुखनिधान बन जाता है नष्ट नहीं होता।

भगवान् ने कहा है—व्यवदान से आत्मा अक्रिया-अवस्था प्राप्त करता है और फलस्वरूप सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण पाता है तथा समस्त दुःखों का अन्त करता है। भगवान् के इस कथन को हृदय में उतार कर हमें अपनी स्थिति का विचार करना चाहिए। अगर आप कर्मरहित हो गए होते तो अपने लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता ही नहीं रहती। परन्तु हम लोग अभी अपूर्ण हैं और इसीलिए हमें उपदेश सुनने-समझने की आवश्यकता है। श्री आचारांगसूत्र में कहा है—जिसने पूर्णता प्राप्त कर ली उसे उपदेश सुननेकी आवश्यकता नहीं रहती। अपना अभी अपूर्ण हैं, अतः उपदेश सुनकर हमें क्या करना चाहिए, इस बात का गहरा विचार करना आवश्यक है। ज्ञानी और अज्ञानी की रीति-नीति में बहुत ही भेद होता है। यह बात सामान्य उदाहरण से समझाता हूं। मान

लीजिए, किसी वृक्ष पर एक ओर बन्दर बैठा है और दूसरी तरफ एक पक्षी बैठा हैं। इतने में तेज तूफान आया और वृक्ष उखड़कर गिर पड़ा ऐसी स्थिति में दुःख किसे होगा? बन्दर को या पक्षी को ? पक्षी तो अपने पंखों के द्वारा ऊपर उड़ जाएगा परन्तु बेचारा बन्दर तो वृक्ष के नीचे कुचला जाएगा। यही बात ज्ञानी और अज्ञानी को लागू होती है। संसार रूपी वृक्ष पर ज्ञानी और अज्ञानी दोनों प्रकार के लोग बैठे हैं। परन्तु संसार वृक्ष नीचे गिरेगा तब ज्ञानी पुरुष पक्षी की भांति ऊर्ध्वगमय करेंगे और अज्ञानी उसी संसार वृक्ष के नीचे दब कर दुखी हो जाएंगे।

इस कथन से यह सार लेना है कि हम शरीर में रहते हुए भी किस प्रकार निर्लेप रह सकते हैं! यह शरीर तो एक दिन छूटने को ही है। मरना सभी को है। परन्तु पक्षी के समान ऊर्ध्वगति करना ठीक है या बन्दर के समान पतित होना ठीक हैं, इस बात का विचार करो। कहोगे तो यही कि ऐसे अवसर पर पंक्षी की तरह ऊर्ध्वगति करना ही योग्य है; परन्तु पक्षी को पंख उसी समय नहीं आजाते पहले से ही उसके पंख होते हैं और इसी कारण आवश्यकता पड़ने पर वह उड़ जाता है। इसी प्रकार ऐसे अवसर पर आत्मा को ऊर्ध्ववंगामी बनाने की पहले से ही तैयारी करो। आग लगने पर कुआ खोदने से क्या लाभ ? अतः आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाने की तैयारी पहले से ही करो। शास्त्रकार हमें मोक्ष के मार्ग इसलिए बतलाते हैं कि हम पहले से ही मोक्ष के मार्ग पर चलने का अभ्यास कर सकें। शास्त्र में कही बात हृदय में ऊतार कर और उसी के अनुसार आचरण करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। आत्मा ही कर्मरहित होकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है

ौर परमात्मा बन जाता है।

कुछ लोग आत्मा को अलग और परमात्मा को अलग ानते हैं, परन्तु ज्ञानियों की तात्विक दृष्टि से आत्मा और रमात्मा समान ही है। कर्मबन्धन से रहित होकर यह आत्मा ो परमात्मा बन जाता है। शास्त्र में कहा है-जो आठ कर्मों बुद्ध है वह आत्मा है और आठ कर्मों से मुक्त हो गया ह परमात्मा है। शास्त्र में इस कथन के अनुसार हमारा ात्मा भी आठ कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त ो सकता है। अगर हम आत्मा का कल्याण करना चाहते तो हमें कर्म बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। र्म बन्धन में आत्मा की परतन्त्रता और कर्ममुक्ति में आत्मा ी स्वतन्त्रता रही हुई है। अतः आत्मा को कर्मबन्धन से क्त करके स्वतन्त्र बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यही म्यक् पुरुषार्थ है।



# उनतीसवां बोल

## सुखसाता

अट्ठाईसवें बोल में व्यवदान के विषय में विचार किया या है। व्यवदान अर्थात् पूर्वसंचित कर्मों का नाश करने से ख-साता उत्पन्न होती है और संयम में शांति आती है। गर संयम में शांति न आये तो समझना चाहिए कि व्यव- ान अर्थात् संचित कर्मों का क्षय ठीक नहीं हुआ। अब

सुख-साता के विषय में भगवान् महावीर से गौतम स्वाम
प्रश्न करते हैं।

## मूल पाठ

प्रश्न—सुहसाएणं भंते ! जीवे किं जणयई ?

उत्तर—सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ, अणुस्सुएणं जं
अणुकम्पए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ।

## शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सुखसाता से जीव को क्या ल
होता है ?

उत्तर—सुखसाता अथवा सुखशय्या से जीव को
में अनुत्सुकता उत्पन्न होती है। अनुत्सुकता से जीव को अ
होती है, अनुकम्पा से निरभिमानता होती है। नि
भिमानता से जीव शोकरहित होता है और शोकरहित ह
से चरित्रमोहनीय कर्म का क्षय करता है।

## विवेचन

'सुहसाएणं' इस पाठ का एक अर्थ तो 'सुखसा
होता है और दूसरा अर्थ प्राकृत व्याकरण के अनुसार
का लोप न करने से 'सुखशय्या' भी होता है।

प्रश्न हो सकता है कि सुख-शान्ति तो सभी
चाहते हैं, और संयम से भी जब सुख-शान्ति प्राप्त होती
तो फिर संयम के लिए किस प्रकार की सुख-शान्ति
त्याग करना पड़ता है ? और संयम से किस प्रकार का
सुख-शान्ति मिलती है ? हमें यह देखना है कि यहां किस
प्रकार की सुख-शान्ति का वर्णन किया गया है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि २९-वें बोल में अर्थात सुखसाता के बोल में कालक्रम से पाठान्तर हो गया है। इस सम्बन्ध में टीकाकार का कहना है सुखसाता-सुखसाय-शब्द से यकार का लोप न किया जाय तो 'सुखशय्या' शब्द बनता है। 'सुखशय्या' शब्द का अर्थ है—सुख से सोना। सुखशय्या के चार भेद किये गये हैं। श्रीस्थानांगसूत्र के चौथे स्थान में भगवान् ने कहा है—हे गौतम ! सुखशय्या के चार भेद किये हैं।

पहला भेद मूंड होकर निर्ग्रन्थ-प्रवचन के प्रति निःशंक रहता है जो मूंडित होकर निर्गन्थ प्रवचन के प्रति निःशंक रहता है वह सुखशय्या पर शयन करने वाला है। कितने ही लोग कहते हैं कि पहले कषायों का मुंडन करना चाहिये और फिर शिरोमुंडन करना चाहिए। अगर कषायों का भलीभांति मुंडन कर लिया हो तो शिरोमुंडन न करने पर भी काम चल सकता है। इस प्रकार कहने वाले लोगों से पूछना चाहिए कि कषाय का मुंडन हुआ है अथवा नहीं, इस बात का निर्णय किस प्रकार हो सकता है ? कषाय का मुंडन होना अन्तरंग-भाव-वस्तु है। इसे व्यवहार में किस तरह जान सकते हैं ? अतएव यहां मुंड होने का सम्बन्ध शिरोमुंड के साथ ही है।

सर्वप्रथम व्यवहार साधा जाता है और उसके बाद निश्चय साधा जाता है। लोग अपने व्यवहार में तो यह बात भूलते नहीं किन्तु धर्म के काम में व्यवहार को ताक में रख कर निश्चय को ही प्रधान पद देते हैं। ऐसा करना एक प्रकार से धर्म को भूल जाना है। छद्मस्थ के लिए तो व्यवहार ही जानने योग्य है। निश्चय तो ज्ञानीजन ही

जानते हैं । अतएव एकदम निश्चय को ही मत पकड़ बैठो, पहले व्यवहार की रक्षा करो ।

मान लो कि किसी मनुष्य में साधुता के सभी गुण मौजूद हैं, किन्तु उसके लिंग (वेष) साधु का नहीं है। तो क्या तुम उसे साधु मानकर वन्दना करोगे ? साधु का वेश न होनें के कारण तुम उसे वन्दना नहीं करोगे । व्यवहार में वेष से ही साधु पहचाना जाता है । श्रीभगवतीसूत्र में कहा है—'असुच्चा केवली' अर्थात् केवलज्ञान तो हो गया है, पर वह अन्तरंग है । बाह्य वेष बदला नहीं है अथवा अवसर न होनें के कारण बदला नहीं जा सका है, ऐसे केवली को वन्दन करने के लिए श्रावक नहीं जाता क्योंकि श्रावक उस भावमय वस्तु को जानता नहीं है । इस प्रकार शास्त्र में भी पहले व्यवहार की रक्षा की गई है । परन्तु [illegible] अनेक लोग निश्चय के नाम पर व्यवहार का [illegible] करते हैं । तुम कहीं पत्र लिखते हो तो साधुओं के विषय में लिखते हो कि अमुक जगह दस संत विराजमान हैं । पर क्या तुम्हें खातिरी है कि उन दसों साधुओं में भाव साधुता है इस प्रकार व्यवहार में जो साधु का वेश धारण करता है वही साधु माना जाता है । अगर साधुता होने पर भी गृहस्थ का वेष धारण करे तो वह गृहस्थ ही समझा जाता है । तात्पर्य यह है कि मुंड होने का अर्थ शिरोमुंड करना है। भगवान् कहते हैं कि जो मुंड होकर निर्ग्रन्थप्रवचन के प्रति निःशंका होता है वह सुखशय्या पर सोने वाला है ।

दूसरी सुखशय्या यह है कि, मुंड होकर स्वलाभ में

ही आनन्द मनाना और पर लाभ की अपेक्षा न रखना। जो व्यक्ति दूसरे के लाभ के आधार पर आनन्द मानता है, कहा जा सकता है कि वह दुःखशय्या पर सोने वाला है। आज तुम लोगों में जो दुःख नजर आ रहा है वह कहां से आया है ? इस बात पर विचार करो। मनुस्मृति में कहा है— 'सर्वमात्मवशं सुखम्।' अर्थात् स्वाधीनता में ही सुख है। तुमने सुना होगा—'पराधीन सपने सुख नाहीं' अर्थात् पराधीन पुरुष को स्वप्न में भी सुख नहीं हो सकता !

नीतिकारों का यह कथन जानते–बुझते हुए भी आज तुम लोग पराधीनता की बेड़ी में जकड़े हुए हो। स्वयं ही तुमने पराधीनता बुलाई है और इस कारण आज अधिक दुःख फैला हुआ है। आज तुम्हारे अन्दर पराधीनता इतनी पैठ गई है कि तुम्हें स्वाधीनता का विचार तक नहीं आता। मगर एक बात सदा ध्यान में रखना, सच्चा सुख सदैव स्वाधीनता में ही है। पराधीनता में सुख नहीं, दुख ही है। इसीलिए भगवान् ने कहा है—जो पुरुष स्वलाभ में ही आनन्द मानता है, पर लाभ की अपेक्षा नहीं रखता, वही पुरुष सुखशय्या पर शयन करने वाला है।

जो पुरुष भोजन तो खाता है परन्तु भोजन बनाना नहीं जानता, विचार करो कि वह मनुष्य सुख शय्या पर सोने वाला है या दुःखशय्या पर सोनें वाला है ? बचपन में मैं भाई-बन्दों के साथ मंगलेश्वर गया था। हम जितने जने गये थे, उनमें से सिर्फ एक आदमी रसोई बनाना जानता था, और किसी को भोजन बनाना नहीं आता था। उस जानकार आदमी ने रसोई बनाई और हम सब ने खाई।

वापस लौटने पर हममें एक लड़के ने अपनी माता से कहा—'अब अपन कहीं बाहर चलेंगे, तो उस रसोई बनाने वाले आदमी को भी साथ ले चलेंगे।'

माता ने उत्तर में कहा —वह रसोई बनाने वाला तुम्हारे बाप का नौकर नहीं है कि तुम्हारे साथ जाएगा!

इस प्रकार जो मनुष्य पराधीन रहता है उसे कष्ट सहन करने पड़ते हैं और कटु वचन भी सुनने पड़ते हैं। इसी कारण भगवान् ने जगत् के जीवों को संबोधन करके पराधीन में दुःख और स्वाधीनता में सुख बतलाया है। सुखशय्या पर सोना अच्छा है और दुःखशय्या पर सोना दुःखदायक है।

तुम जिन चीजों का सदैव व्यवहार करते हो और जिनके लिए तुम्हें अभिमान है, उनमें से कोई चीज ऐसी है जिसे तुम बना सकते हो? अगर बना नहीं सकते तो यह तुम्हारी पराधीनता है या स्वाधीनता? इस पर विचार करो। सिद्धान्त में कहा है—राजकुमार हो या श्रेष्ठिकुमार हो, प्रत्येक कुमार को ७२ कला सीखना आवश्यक है। ७२ कलाओं में जीवन सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाली वस्तुएं बनाने को और उनके उपयोग करने की कला का समावेश हो जाता है। इन ७२ कलाओं को सीख लेने से जीवन पराधीन नहीं रहता स्वाधीन बन जाता है। यह आश्चर्य और दुःख का विषय है कि आज लोग पराधीन होते हुए भी अभिमान करते हैं। जीवन को स्वतंत्र बनाने के लिए कलाओं का ज्ञान सम्पादन करना आवश्यक है।

श्री ज्ञातासूत्र में, मेघकुमार के अध्ययन में ७२ कलाओं

का वर्णन किया गया है। उनमें एक कला अन्नविधि सम्बन्धी है। इस अन्नविधिकला में, अन्न किस प्रकार उत्पन्न करना, किस प्रकार सुरक्षित रखना और किस प्रकार पका कर खाना आदि का शिक्षण आ जाता है। अर्थात् कृषिकर्म के साथ ही कृषि द्वारा उत्पन्न हुई वस्तु की रक्षा और उसके उपयोग की विधि भी मालूम हो जाती है। शास्त्र में इस कला के भी तीन भेद किये गये हैं। सर्वप्रथम कला को सूत्र से जानना चाहिए, फिर जानी हुई कला को अर्थ से समझना चाहिए और अन्त में जानी तथा समझी हुई कला को अमल में लाना चाहिए।

अगर कोई मनुष्य किसी कला को सूत्र से तो जानता है परन्तु अर्थ से नहीं समझता और कर्म से व्यवहार में नहीं लाता तो समझना चाहिए कि वह मनुष्य कला सम्पादन में अभी अधूरा है। पूर्ण कलाकुशल मनुष्य वही कहा जा सकता है जो सूत्र से अर्थ से और कर्म से कला का सम्पादन करता हो! अन्नविधि की तरह वस्त्रविधि, गृहविधि आदि की भी कला है। ७२ कलाओं का सम्पादन करने वाला मनुष्य ही पहले कलाकुशल कहलाता था। आज तो कलाएं प्रायः नष्ट हो गई हैं। आज लोग तैयार वस्तुएं लेकर पराधीन बन रहे हैं, फिर भी तैयार वस्तु लेने में अपने आपको स्वाधीन और निष्पाप मानते हैं। लेकिन शास्त्र में यह कथन है कि परावलम्बी, पराधीन रहने वाला दुःखशय्या पर सोने वाला है और स्वावलम्बी–स्वाधीन रहने वाला सुखशय्या पर सोने वाला है। तुम लोग सुन्दर मकान में रहते हो, मिष्ट भोजन करते हो और अपने आप को सुखी मानते हो। परन्तु तुम उन वस्तुओं के लिए पराधीन हो,

अतएव शास्त्रकार तो तुम्हें दुःखशय्या पर सोने वाला ही कहते हैं। शायद ही कोई भील ऐसा हो जो अपनी झौंपड़ी बनाना न जानता हो। मगर तुम जिस मकान में रहते हो, उसे बना सकते हो ? अगर नहीं तो स्वाधीन हो या पराधीन हो ? वास्तव में स्वाधीन मनुष्य ही सुखी है और पराधीन मनुष्य ही दुखी है। यही बात दृष्टि में रखकर युधिष्ठिर के महल की अपेक्षा व्यास की झौंपड़ी श्रेष्ठ गिनी गई है।

कहने का आशय यह है कि स्वलाभ में आनन्द मनाना और परलाभ की आशा न रखना ही साधु के लिए सुखशय्या है। सुखशय्या पर शयन करने से मन निराकुल बनता है। जो मनुष्य पराधीन परतन्त्र नहीं होता, उसी का मन व्याकुलतारहित होता। परन्तु तुम लोग परतन्त्र हो और तुम्हारा मन व्याकुल रहता है, फिर भी अपने आप को सुखी मान रहे हो, यह आश्चर्यजनक बात है। मन को व्याकुल न होने देना ही सच्चा सुख है। बाह्य पदार्थों में सुख नहीं है। इस कथन का सार यह है कि मन की अव्याकुलता ही सुखशय्या है और मन को व्याकुलता ही दुखःशय्या है। सुन्दर महल में रहने पर भी और मिष्ट भोजन करने पर भी अगर मन व्याकुल हुआ तो दुःख उत्पन्न होता है। इसके विपरीत घास की झौंपड़ी में रहते हुए भी और रूखा-सूखा भोजन करने पर भी अगर मन निराकुल हुआ तो सुख उत्पन्न होता है। इस प्रकार मन की व्याकुलता से दुःख पैदा होता है और मन की अव्याकुलता से सुख पैदा होता है। इसके समर्थन में आगम में कहा है–

**तं संथारं निसन्नो मुणिवरो नट्ठरागवम्मोहो ।**
**पावइ ज मुत्तिसुहं कुतो तं चक्कवट्टीए ?**

अर्थात्—घास के बिछौने पर सोने वाले, राग-द्वेष, ोह आदि को नष्ट करने वाले मुनिवर जिस आनन्द का पयोग करते हैं, वह वेचारे चक्रवर्ती को भी कहां नसीब है ?

बाह्य वैभव कैसा ही क्यों न हो, मन अगर व्याकुल हता है तो दुःख ही समझना चाहिए और बाह्य वैभव ोड़ा हो या न हो किन्तु मन अव्याकुल हो तो सुख ही है, सा मानना चाहिए । इस कथन के अनुसार जो साधु राधीन है और जिसका मन व्याकुल रहता है वह दुःखी । जो साधु स्वाधीन है, जो अपना काम आप कर लेता , और जिसका मन अव्याकुल रहता हैं, वह सुखशय्या पर ोने वाला है—सुखी है ।

पहले के लोग ऐसे थे कि वे प्राण देना कबूल कर ते थे परन्तु परतन्त्रता स्वीकार नहीं करते थे । किन्तु सार परिवर्तनशील है, इस कारण अब वह क्रम बदल गया खाई देता है और ऐसा जान पड़ता है कि लोग परतन्त्रता ही आनन्द मना रहे हैं ।

तीसरी सुखशय्या बतलाते हुए भगवान् कहते हैं— षयों का ध्यान भी न करना । आनन्द के लिए विषयों । भोग करना तो दूर उनका विचार भी न करना तीसरे कार की सुखशय्या है ।

चौथी सुखशय्या यह कि चाहे जैसी आपत्ति आ पड़े । भी आपत्ति के समय सहिष्णुता पूर्वक कष्ट सहन करना

और प्रसन्नचित्त रहना। दुःख जब सिर पर आ पडे तो इस प्रकार विचारना-अगर मैं इन दुःखों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करूंगा तो मुझे महान् निर्जरा का लाभ मिलेगा और जो दुःख पूर्वक सहन करूंगा तो कर्मबन्ध होगा। अनेक महात्मा तो कर्मों की उदीरणा करके दुःखों को समभाव से सहन करते हैं, तो फिर आई हुई विपत्ति से मुझे क्यों घबराना चाहिए ? जो दुःख आये हैं वे बिना किये तो आये नहीं। मैंने दुःखों को जन्म दिया तभी वे आये हैं। अब, जब दुःख माथे आ पड़े हैं तो उन्हें समता के साथ और धैर्यपूर्वक सहना ही चाहिए। धैर्यपूर्वक दुःख सहन करने वाला सुखशय्या पर सोने वाला है, ऐसा समझना चाहिए।

सुखसाता के पाठान्तर के विषय में यही विचार किया गया है। सूत्र में आये 'सुहसाया' शब्द के सुखसाता और सुखशय्या दोनों अर्थ किये जाते हैं। सुखशय्या के चार भेद करके उनका जो विवेचन किया गया है उस सब का सार यह है कि वास्तव में बाहर के पदार्थों में सुख नहीं है। सुख तो अन्दर ही है। सुख तो स्वाधीनता में है, पराधीनता में नहीं। जितनी-जितनी पराधीनता बढ़ती है, उतना ही दुःख बढ़ता जाता है। इस के विपरीत जो जितना स्वाधीन है वह उतना ही सुखी है। लोग भी कहते तो हैं कि पराधीनता में दुःख और स्वाधीनता में सुख है, परन्तु व्यवहार में यह बात भूल जाते हैं। परतन्त्र रहना बालदशा है। जो तुम्हारे सच्चे हितैषी होंगे वे तुम्हें इस बालदशा से बाहर निकालने का प्रयत्न करेंगे। अगर तुम बालदशा से बाहर निकलना चाहते हो तो स्वाधीन बनने का प्रयत्न करो। तुम मोटर में बैठते तो हो पर मोटर बनाना या चलाना

हीं जानते । ड्राइवर मोटर चलाता है किन्तु वह गड्हे में गिरा दे तो ? इस तरह इन बातों पर ध्यान रखकर पराधीनता हटाओ और स्वतन्त्र बनो । आखिर स्वतन्त्र बनने में ही सुख है।

कदाचित् तुम कहोगे कि तैयार चीज लेने से तथा व्यवहार करने से पाप नहीं लगता । अतएव अपने हाथ से कोई चीज बनाने की अपेक्षा तैयार चीज लेना ही उचित है। उसके उत्तर में श्रावकों का वर्णन करते हुए शास्त्र में कहा है—

**'धम्मिया. धम्मियाणंदा, धम्मोवएसगा, धम्मेण च वित्ति कप्पमाणे विहरइ ।'**

अर्थात्—श्रावक धर्मी होता है धर्म में आनन्द मनाने वाला होता है धर्म का उपदेशक होता है और धर्मपूर्वक आजीविका करता हुआ विचरता है।

अब यह विचार करो कि धर्मपूर्वक आजीविका करने का अर्थ क्या है ? क्या श्रावक भिक्षाचरी करता है ? श्रावक जब तक ग्यारह प्रतिमाधारी नहीं बनता तब तक भिक्षाचरी नहीं कर सकता । भिक्षा के तीन प्रकार हैं । पहली सर्व-सम्पत्तिकारी भिक्षा, दूसरी वृत्तिभिक्षा, और तीसरी पौरुषघ्नी भिक्षा है ।

जो महात्मा संयम का पालन करते हैं और केवल संयम की रक्षा के लिए ही शरीर का निर्वाह करने जितनी भिक्षा लेते हैं वह भिक्षा सर्वसम्पत्तिकारी कहलाती है। भगवान ने साधुओं को अपना शरीर नष्ट करने की आज्ञा

नहीं दी है। साधु केवल शरीरनिर्वाह के लिए और धर्माचरण करने के लिए ही भिक्षा लेता है। यह भिक्षा सर्वसम्पत्तिकारी होती है। जो भिक्षु सम्यक्प्रकार से साधुधर्म का पालन नहीं करता, उसे भिक्षा मांगने का अधिकार नहीं है। जो भिक्षु निरारंभी और निष्परिग्रह रहकर साधुधर्म का बराबर पालन करता है, उसी को भिक्षा मांगने का अधिकार है। जो भिक्षु संयम का पालन नहीं करता और केवल पेटपूर्ति के लिए भिक्षा मांगता है, शास्त्र में उसे 'गामपिंडोलिया' कहा है।

कितनेक लोग साधुधर्म का पालन न करते हुए भी सिर्फ पेट भरने के लिए साधु बन जाते हैं। ऐसे पेटू साधु समाज के लिए भाररूप हैं। भारत में ऐसे साधु करीब बावन लाख हैं। इन बावन लाख साधुओं के लिए भारत को कितना खर्च वहन करना पड़ता है? लोगों से भिक्षा मांग-मांग कर खाना और साधु धर्म का पालन न करना बहुत ही बुरी बात है। बहुत-से लोग इन पेटू साधुओं को भी गुरु-बुद्धि से मानते हैं। यह विषमकाल का ही प्रभाव है। विषमकाल कैसा होता है, यह बतलाते हुए शास्त्र में कहा है—विषमकाल में साधुओं की पूजा नहीं होती और असाधुओं की पूजा होती है। परन्तु जो लोग आत्मा का कल्याण करना चाहते होंगे, वे तो साधुधर्म का बराबर पालन करने वाले साधु की ही पूजा करेंगे और उसी को गुरु के रूप में मानेंगे।

दूसरी वृत्तिभिक्षा है। लूले, लंगड़े या अपंग लोग जो भीख मांगते हैं, वह वृत्तिभिक्षा कहलाती है। इस वृत्तिभिक्षा

की न निन्दा की गई है और न प्रशंसा ही की गई है। दयालु लोग दया करके देते हैं और दया को कोई बुरा नहीं कहता।

तीसरी भिक्षा पौरुषघ्नी है। जो लोग हृष्टपुष्ट हैं और जो मेहनत करके कमा सकते हैं फिर भी मेहनत मजूरी न करके केवल भीख मांगकर खाते हैं, उनकी भिक्षा पौरुषघ्नी है।

कहने का आशय यह है कि श्रावक धर्मपूर्वक आजीविका करने वाले कहे गए हैं। गृहस्थ श्रावक भिक्षा मांगकर नहीं खाते, वरन् धर्मपूर्वक अपनी आजीविका करते हैं। श्रावक न्यायपूर्वक आजीविका करते थे और स्वतन्त्रतापूर्वक आजीविका करते थे। उस समय वे श्रावक स्वावलम्बी थे। तुम भी अपने पूर्वज श्रावकों के चरण-चिह्नों पर चलकर स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करो। स्वावलम्बन में सुख है। परावलम्बन में दुःख है।

संसार के सभी लोग सुखशय्या चाहते हैं किन्तु सुख के नाम पर दुःखशय्या को अपना रहे हैं और दुःखशय्या के नाम पर सुखशय्या छोड़ रहे हैं। परन्तु भगवान् ने कहा है कि जो स्वाधीन है और जिसका मन निराकुल है, वही सुखशय्या पर सो सकता है। मन को निराकुल बना देने से व्यवहारिक लाभ भी होता है और आध्यात्मिक लाभ भी होता है। पराधीन मनुष्य दुःखशय्या पर सोने वाला है। स्वाधीनता का मार्ग छोड़ देना और परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ जाना, सुखशय्या त्याग कर दुःखशय्या पर सोने के समान है।

निराकुल वन जाता है। मन के निराकुल वन जाने से मन की चंचलता घट जाती है अथवा मिट जाती है और फल-स्वरूप मन को शांति मिलती है। जो पुरुष दूसरों की आशा या अपेक्षा नहीं रखता और देव संबंधी कामभोग की भी अभिलाषा नहीं करता, उस पुरुष के हृदय में किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं रहती। जो मनुष्य विषय सुख को विषमय और तुच्छ मानता है उस के मन में आकुलता-व्याकुलता रह नहीं पाती।

विषयसुख की इच्छा न करने से मन अनुत्सुक वनता है। मन अनुत्सुक वनने से अर्थात् विषयसुख की इच्छा न होने से हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न होती है। अनुकम्पा की व्याख्या करते हुए कहा है—'अनुकूलं कपनं चेष्टनं अनुकंपा।' अर्थात् दूसरे का दुख देखकर कांप उठना और दूसरे के दुःख को अपना ही दुःख समझना अनुकम्पा है। इस प्रकार की अनुकम्पा विषय-सुख के इच्छुक के मन में नहीं उत्पन्न होती। विषयसुख की इच्छा न रखने वाले को ही ऐसी अनुकम्पा उत्पन्न होती है। विषयसुख का अभिलाषी तो अपने विषसुख को प्राप्त करने का ही प्रयत्न करता है, फिर दूसरे लोग चाहे जीए, चाहे मरे। जो विषय सुख का त्यागी है, उसके हृदय में दूसरे को दुःखी देखकर अनुकम्पा पैदा होती है दूसरों के दुःख से उसका हृदय कांप उठता है।

आजकल तो दयालु पुरुष को कायर कहते हैं, परन्तु शास्त्र के अनुसार हृदय में अनुकम्पा दया होना सद्गुण है। जिन लोगों में विषय सुख की लालसा नहीं रहती उन्हीं में यह सद्गुण पाया जाता है। जिनमें विषय सुख भोगने की

के विषय तनिक भी बुरा विचार न किया। उसने यह नहीं सोचा कि खरगोश के साथ मेरा क्या सम्बन्ध था कि उसे बचाने के लिए मैंने पैर ऊपर रखकर इतना कष्ट सहन किया ? भगवान् ने कहा है - हे मेघकुमार ! इस प्रकार की अनुकम्पा रखने के कारण ही तू हाथी-पर्याय से छूटकर राजा श्रेणिक के घर राजकुमार रूप में जन्मा और संयम धारण कर सका है।

कहने का आशय यह है कि जो मनुष्य विषय-सुख के प्रति निस्पृह होता है, उसी में अनुकम्पा का होना देखा जाता है। लोग जो बारीक, चिकने और मुलायम वस्त्र पहनते हैं, उनमें लगाई जाने वाली चर्बी के लिए कितने जीव मारे जाते हैं ? किसी दिन इस बात पर विचार किया है ? विचार क्यों नहीं करते ? इसीलिए कि उन रेशमी और मुलायम वस्त्रों के प्रति तुम निस्पृह नहीं हो ! जब तक विषयलालसा छूटती नहीं तब तक अनुकम्पा उत्पन्न होगी नहीं। जब प्राणीमात्र के प्रति आत्म-भाव उत्पन्न होता है तभी अनुकम्पा उत्पन्न होती है। हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न करने के लिए परमात्मा से यही प्रार्थना करनी चाहिए—

**ऐसी मति हो जाय, दयामय, ऐसी मति हो जाय।**
**औरों के सुख को सुख समझूं, सुख का करूं उपाय॥**
**अपने दुःख सब सहूं किन्तु परदुःख नहीं देखा जाय॥**

अर्थात् - हे प्रभो ! मुझमें ऐसी सुबुद्धि उत्पन्न हो कि मैं दूसरों के दुःख को अपना ही दुःख मानूं और दूसरों के सुख को अपना सुख समझूं। इस प्रकार की सम्मति सब में उत्पन्न हो जाए तो विश्व प्रेम फैल जाए। विश्वप्रेम की

जननी अनुकम्पा है। अनुकम्पा पैदा करने के लिए विषय-सुख के प्रति निस्पृह बनो। जब तुम्हारे हृदय में से विषय-सुख की लालसा दूर होगी, तब हृदय में अनुकम्पा के अंकुर फूट निकलेंगे। उस समय तुम दयापात्र बनने के बदले दया-मय बन जाओगे। विश्व प्रेम उत्पन्न करने के लिए तुम दूसरों के सुख में सुख और दुःख में दुःख मानोगे तो स्व-पर का कल्याण ही करोगे।

किसी भी कार्य का फल जान लेने से उसमें जल्दी प्रवृति होती है। जब तक किसी कार्य का फल न जान लिया जाये तब तक किसी भी कार्य में प्रवृति नहीं होती। व्यवहार में भी देख भाल कर ही प्रवृति की जाती है। जब तुम्हें खातिरी होती है कि हम जो रुपया दे रहे हैं वह ब्याज सहित वापिस मिल जायेगा, तो तुम रुपया देने में ढील नहीं करते। इसके विपरीत अगर तुम्हें मालूम हो जाय कि हमारा दिया हुआ रुपया वसूल नहीं होगा, तो इस दशा में तुम रुपया नहीं दोगे, यह स्वाभाविक है। महान् से महान् चक्रवर्ती भी फल की आशा से ही अपनी सम्पदा का त्याग करते हैं। इसी कारण भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है कि विषय-सुख की आसक्ति का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

इसके प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है विषयसुख का त्याग करने से विषय भोग के प्रति अनुत्सुकता उत्पन्न होती है, अर्थात् विषयसुख भोगने की उत्सुकता या इच्छा नहीं रहती। जिसने आम खाने का त्याग कर दिया है उसे आम खाने की उत्सुकता नहीं रहती। इसी प्रकार विषयसु-

का त्याग करने से विषयों के प्रति उत्सुकता या चंचलता नहीं रहती। त्याग न किया जाये तो उत्सुकता या चंचलता बनी ही रहती है।

रामायण के कथनानुसार जब सूर्पणखा ने रावण के सामने राम और लक्ष्मण के गुणों का वर्णन किया तो रावण के हृदय में किसी तरह की उत्सुकता या चंचलता उत्पन्न न हुई परन्तु जब उसने सीता के रूप का बखान किया तो रावण के हृदय में इस प्रकार की चंचलता पैदा हो गई कि जो सीता संसार की स्त्रियों में शिरोमणि बतलाई जाती है, उसे मुझे देख तो लेना चाहिए। इसी चंचलता के कारण घोर अनर्थ हुआ है। रावण अगर पहले से ही विषयसुख या परस्त्री का त्यागी होता तो उसके हृदय में इस प्रकार की चंचलता पैदा न होती और तब ऐसा अनर्थ भी क्यों होता?

इस प्रकार विषयसुख का त्याग करने से चंचलता मिट जाती है। चंचलता हट जाना और अनुत्सुकता पैदा होना त्याग का लक्षण है। त्याग करने पर अगर चंचलता या उत्सुकता बनी हुई हो तो समझना चाहिए कि सच्चा त्याग अभी हुआ ही नहीं है। सच्चा त्याग तब समझना चाहिए जब हृदय में तनिक भी चंचलता न रह जावे। भगवान् का कथन है कि चंचलता मिट जाने से और स्थिरभाव उत्पन्न होने से हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न होती है। अनुकम्पा कितना श्रेष्ठ गुण है, इस विषय में कहा गया है -

**दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।**

अर्थात् - दया-अनुकम्पा ही धर्म का मूल है। अनुकम्पा को सभी ने धर्म बतलाया है। जिसमें विषयसुख की लालसा नहीं होती उसे ही इस श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति होती है।

साधारण तौर पर प्रत्येक व्यक्ति में, न्यूनाधिक परिणाम में अनुकम्पा का गुण विद्यमान रहता है। परन्तु जब स्वार्थ के कारण हृदय में चंचलता आती है तब अनुकम्पा अदृश्य हो जाती है। उदाहरणार्थ--गाय किसी को यहां तक कि कसाई को भी खट्टा दूध नहीं देती। फिर भी जब कसाई के दिल में स्वार्थ के कारण तथा विषयलालसा के कारण चंचलता उत्पन्न होती है तब वह निर्दयता के साथ गाय को क़त्ल कर डालता है। विषयलालसा के कारण हृदय में चंचलता उत्पन्न होती है और चंचलता के कारण अनुकम्पा का भाव कम हो जाता या सर्वथा नष्ट हो जाता है, ऐसा क्रम है।

विचार करो कि तुम्हारे दिल में पशुओं के प्रति सच्ची दया है या केवल दया का दिखावा मात्र है? अगर तुम्हारे हृदय में सच्ची दया हो तो क्या तुम ऐसी वस्तुओं का व्यवहार कर सकते हो जिनके खातिर पशुओं की हत्या की जाती है? तुम यों तो गाय को नहीं मारोगे परन्तु तुम्हारे सामने गाय के चमड़े के बने सुन्दर और मुलायम बूट रखे जाएं अथवा गाय की चर्बी वाले कपड़े तुम्हें दिये जाएं तो उन्हें उपयोग करने के लिए लोगे या नहीं? प्रत्यक्ष में तो तुम गाय को माता कहोगे, मगर यह नहीं देखोगे की तुम्हारे लिए गाय माता की हालत कितनी भयंकर हो रही है? क्या तुमने कभी सोचा है कि तुम जो मुलायम बूट पहनते हो वो किसके चमड़े के बनते हैं?

तुम कह सकते हो कि जूते पहने बिना कोई काम नहीं

लता, मगर भारतवर्ष में पहले चमड़े के खातिर कभी भी
शुओं का घात नहीं किया जाता था । जो पशु स्वाभाविक
ौत से मर जाते थे, उन्हीं के चमड़े के जूते बनाए जाते
। आजकल तो विशेष तौर से चमड़े के लिए पशु मारे
ाते हैं। इतना ही नहीं वरन् चमड़े को सुन्दर और मुला-
म बनाने के उद्देश्य से पशुओं की बड़ी ही निर्दयता के
ाथ हत्या की जाती है । क्या तुम लोगों ने ऐसे सुन्दर
ौर मुलायम चमड़े की वनी चीजों का त्याग किया है ?
गर त्याग नहीं किया तो क्या तुम्हारे दिल में पशुओं के
ति दया का भाव है ?

कल्पना करो, तुम्हारे सामने द्रौपदी को नग्न किया
ाये और उसके शरीर पर से उतारे हुए वस्त्र, कोट, कमीज
नवाने के लिए तुम्हें दिए जाएं तो क्या तुम उन वस्त्रों को
ाथ भी लगाओगे ? तुम उस समय यही कहोगे कि जिन
स्त्रों के लिए द्रौपदी माता को नग्न किया गया है, उन्हें
म छू भी कैसे सकते हैं ? इसी प्रकार कह कर तुम उन
स्त्रों का उपयोग नहीं करोगे । मगर तुम्हारी मातृभूमि
ो हानि पहुंचाने वाले वस्त्र तुम्हें दिये जाते हैं, उन्हें लेने
ा तुमने त्याग किया है ? तुमने हिंसामूलक वस्त्रों का और
चमड़े का त्याग नहीं किया, इसका एक प्रधान कारण यही
है कि अभी तक तुम्हारे हृदय में अनुकम्पा का भाव ही
उदित नहीं हुआ है । अगर सच्ची अनुकम्पा तुम्हारे हृदय
में उत्पन्न हो जाती तो ऐसी हिंसामूलक वस्तुओं का तुम
स्पर्श तक न करते।

भगवान् कहते हैं कि हृदय में अनुकम्पा का भाव पैदा

होने से अनुद्धतता अर्थात् निरभिमानता आती है। अनुकम्पा से हृदय नम्र बन जाता है और नम्र हृदय में अभिमान उत्पन्न नहीं होता। अनुकम्पाशील मनुष्य में 'मैं बड़ा हूं, मैं यह कैसे करूं ?' इस प्रकार का मिथ्या अभिमान नहीं होता है। अनुकम्पा वाला मनुष्य दूसरे के दुःख को अपना ही दुःख मानता है और दूसरे का दुःख मिटाना अपना दुःख मिटाना समझता है। वही सच्ची अनुकम्पा है जिससे अभिमान या लालसा को स्थान न हो। जहां किसी भी प्रकार की लालसा होती है वहां विशुद्ध अनुकम्पा नहीं।

आजकल कितने ही लोग अनुकम्पा के नाम पर दान तो करते हैं परन्तु साथ ही साथ अपने आप को दानी कहलाने के लिए अखबारों में बड़े–बड़े अक्षरों में, अपने दान की घोषणा छपवाते हैं। क्या यह अनुकम्पा और दान है? वास्तव में देखा जाये तो सच्ची अनुकम्पा न होने का कारण ही प्रसिद्धि की इच्छा रहती है। हृदय में सच्ची अनुकम्पा हो तो नाम की इच्छा नहीं होती।

आनन्द श्रावकों के पास बारह करोड़ स्वर्ण–मोहरों का धन था। उसमें से वह चार करोड़ स्वर्ण मोहरों से व्यापार करता था। उसके पास चालीस हजार गायें थीं। जब उसने भगवान् के दर्शन किये तो भगवान् के उपदेश सुनकर उसने यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं अब धन आदि की वृद्धि नहीं करूंगा इस प्रतिज्ञा के पश्चात् भी उसका चार करोड़ मोहरों का व्यापार चालू रहा और चालीस हजार गायें भी बनी रहीं। गायों में वृद्धि होना स्वाभाविक है, फिर भी उसका त्याग भंग नहीं हुआ, यह एक विचारणीय

प्रश्न है। शास्त्र में कोई ऐसा स्पष्टीकरण नहीं किया गया है कि किस प्रकार उसकी सम्पत्ति में और उसकी गायों में वृद्धि नहीं हुई ? और कैसे उसका त्याग भंग नहीं हुआ ? परन्तु इसके कारण पर विचार करने से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्द श्रावक बिना मुनाफे का व्यपार करता था अथवा बढ़ी हुई सम्पत्ति को दान देता था। उसे कोई मनुष्य गरीब दिखाई देता तो उसे गायें दान कर देता था। इसी प्रकार उसकी सम्पत्ति तथा गायों का परिमाण भी बरा-वर रहता और त्याग की रक्षा के साथ दान आदि धर्म का भी पालन हो जाता था।

कहने का आशय यह है कि आनन्द श्रावक ने दानी होते हुए भी दानियों की नामावली में अपना नाम प्रसिद्ध नहीं किया था। इतना ही नहीं वरन् शास्त्र में भी उसके इस दान का वर्णन तक नहीं किया गया है। मगर यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि जब उसका त्याग भी सुरक्षित रहा और व्यापार आदि की मर्यादा भी बराबर कायम रही, तब बढ़ती हुई सम्पत्ति का सिवाय दान के और क्या उपयोग हो सकता था ? जिस मनुष्य में सच्ची अनु-कम्पा होती है, वह दान भी गुप्त रूप से ही देता है और दान देकर अभिमान नहीं करता। वह अपने नाम की प्रसिद्धि भी नहीं चाहता।

तुम लोग गाय की सेवा करके दूध पीते हो या बाजार से खरीदा हुआ पीते हो ? तुम गाय की सेवा किये बिना ही दूध पीते हो, फिर भी अपने आप को अनुकम्पा वाला कहलवाते हो ? क्या बिक्री का दूध पाने में अनुकम्पा

है ? शास्त्रकार इसे अनुकम्पा नहीं कहते । ऐसी दशा में भी आज किसके घर में गायें हैं ? आज कौन मोल खरीद कर दूध नहीं पीता ? स्त्रियां तो कह देंगी कि हम अप सेवा करें या गायों की सेवा करें ? हम अपना सिंगार स अथवा गायों का गोबर और पेशाब उठाएं ? जहां ऐसी भावन है वहां अनुकम्पा का गुजारा कहां ? सुना है, गांधीजी ने भार की गायों की दुर्दशा देखकर गाय का दूध पीना ही छो दिया था। तुम लोग गाय का दूध तो पीते हो मगर गा की सेवा नहीं करते, इसका कारण यही प्रतीत होता है कि तुम में अनुकम्पा का अभाव है।

कहने का आशय यह कि विषयसुख की लालसा का त्याग करने से अनुकम्पा उत्पन्न होती है और अनुकम्पा से अनुद्धतता अर्थात् निरभिमानता पैदा होती है । जिसमें निरभिमानता प्रकट हो जाती है उसमें किसी प्रकार का शोक, सन्तोप या किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती। जिसमें सच्ची अनुकम्पा होती है उसे हानि होने पर चिन्ता नहीं होती । मान लीजिए, किसी व्यापारी ने रूई की गांठों का बीमा उतरा लिया है । अब कदाचित् उन गांठों में आग लग जाये तो क्या उस व्यापारी को चिन्ता होगी ? वह तो यही कहेगा कि मेरा क्या बिगड़ा ? मैंने तो पहले ही बीमा उतरा लिया है। इसी प्रकार जिसके हृदय में सच्ची अनुकम्पा होती है वह मनुष्य अपनी समस्त वस्तुएं परमात्मा को समर्पित कर देता है और इसी कारण किसी भी वस्तु का नाश होने पर भी उसे चिन्ता नहीं होती । इतना ही नहीं, अपने प्राण तक चले जाने पर भी अनुकम्पाशील मनुष्य को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होती । कहा भी है–

चाहत जीव सबे जग जीवन,
देह समान नहीं कछु प्यारो ।
संयमवन्त मुनिश्वर को,
उपसर्ग हुए तन नाशन हारो ।
तो चिन्तै हम आतम राम,
अखण्ड अबाधित रूप हमारो ।
देह विनाशिक सो हम तो—
नहिं शुद्ध चिदानन्द रूप हमारो ।।

संसार का कोई भी प्राणी अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहता, क्योंकि देह सभी को प्रिय है। देह के बराबर अन्य कोई भी वस्तु प्रिय नहीं है। ऐसा होने पर भी संयमवन्त मुनिश्वर देहान्तकारी कष्ट उपस्थित होने पर भी चिन्ता नहीं करते। वे इसी प्रकार विचार करते हैं कि—हमारा देह अलग है और आत्मा अलग है। गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर आग रखी गई स्कंदकमुनि की चमड़ी उधेड़ ली गई और पांच सौ मुनि कोल्हू में पैर दिये गये, फिर भी मुनिश्वरों को किसी प्रकार की चिन्ता न हुई। कारण यही है कि वे मुनि और आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न मानते थे। इस प्रकार शोकरहित होने का कारण अनुकंपा है। अनुकंपा होने के कारण ही मुनिश्वरों को देहान्त कष्ट पड़ने पर भी चिन्ता पैदा न हुई। उन्होंने अपना शरीर पहले ही परमात्मा को समर्पित कर रखा था।

सुख-साता के प्रश्नोत्तर में भगवान् ने कार्य कारण-भाव बतलाया है। भगवान ने कहा है—विषयलालसा न

होने से अनुत्सुकता (विषयों के प्रति अनासक्ति) उत्पन्न होती है, अनुत्सुकता से अनुकम्पा उत्पन्न होती है और अनुकम्पा से जीव में निरभिमानता आती है। निरभिमानता से जीव शोक-रहित बनता है और शोकरहित होने से चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है।

शास्त्र में मोहनीय कर्म के दो भेद कहे गये हैं–दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय तो वस्तु का सम्यक् स्वरूप समझने में बाधक होता है और चारित्र-मोहनीय कर्म वस्तु का स्वरूप समझ लेने पर भी उस समझ के अनुसार आचरण करने में बाधक बनता है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ लेने पर भी चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से तदनुसार आचरण नहीं किया जा सकता। चारित्र-मोहनीय कर्म नष्ट होने पर ही चारित्र प्रकट होता है। अगर संकल्प-विकल्प न मिटे तो समझना चाहिए कि अभी तक चारित्र-मोहनीय कर्म नष्ट नहीं हुआ है। संकल्प-विकल्प के मिट जाने पर वास्तविक चारित्र प्रकट होता है। जब चारित्र-मोहनीय कर्म का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है, तब आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। इस प्रकार विषयलालसा को दूर करने से आत्मा गुणक्रमारोहण कर सिद्धि प्राप्त करता है। यही मुक्ति का मार्ग है। शास्त्रकार कहते हैं कि मोक्ष मार्ग सरल तो है मगर इस मार्ग पर जाने के लिए विषयलालसा आदि जो कांटे बिखरे पड़े हैं उन्हें सर्वप्रथम दूर करने की आवश्यकता है। विषयलालसा को जीत लिया जाये तो मुक्ति के मार्ग पर चलना सरल है। गीता में भी कहा है—

**तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भारतर्षभ !**

अर्थात् हे अर्जुन ! पहले इन्द्रियों की विषयलालसा जीत लो। विषयलालसा को जीत लेने से तुम सभी पर विजय प्राप्त कर सकोगे।

मुक्ति मार्ग पर जाने के लिए, तुम लोग भी सर्वप्रथम इन्द्रियों को जीतने का प्रयत्न करो। अगर तुम प्रारम्भ से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करोगे तो क्रमशः मुक्ति भी प्राप्त कर सकोगे। परम्परा से मिलने वाले फल को प्राप्त करने के लिए सब से पहले प्रारम्भिक कार्य करना चाहिए। किसान को फल तो बाद में प्राप्त होता है, पर बीज के आरोपण करने का कार्य इसे पहले करना पड़ता है। अगर वह प्राथमिक कार्य-बीज का आरोपण न करे तो धान्य का लाभ उसे कैसे हो सकता है? इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम विषयलालसा पर विजय पाना आवश्यक है। अगर विषयलालसा जीत ली जाये और चंचलता का त्याग कर जीवन में अनुकम्पा उतारी जाये तो आत्मा का कल्याण हो और मुक्ति का मार्ग भी खुल जाये।



# तीसवां बोल

## अप्रतिबद्धता

उनतीसवें बोल में सुखशय्या अथवा सुख साता के सम्बन्ध में काफी विचार किया जा चुका है। अब यह विचार करना है कि सुखशय्या पर कौन सो सकता है या

सुखसातापूर्वक कौन रह सकता है ? जिस व्यक्ति में विष
लोलुपता नहीं है और जिसमें प्रतिवद्धता अर्थात् आसत्ति
नहीं है, वही व्यक्ति सुखशय्या पर सो सकता है। अतए
गौतम स्वामी भगवान् से यह प्रश्न करते हैं कि अप्रतिवद्ध
अर्थात् अनासक्ति से जीव को क्या लाभ होता है?

## मूलपाठ

**प्रश्न—अपडिबद्धयाएणं भंते ! जीव किं जणयइ**

**उत्तर—अपडिबद्धयाएणं निस्संगत्तं जणयइ, निस्सं त्तेणं जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया वा राम्रो वा असज्जम अपडिबद्धे आवि विहरइ ॥३०॥**

## शब्दार्थ

प्रश्न - भगवन् ! अनासक्ति से जीव को क्या ल
होता ?

उत्तर—अनासक्ति से जीव निःसंग अर्थात् राग-
ममत्व से रहित होता है, और निःसंग होने से उसका
दिन-रात धर्म-ध्यान में एकाग्र रहता है और एकाग्र हों
वह अनासक्त होकर अप्रतिबद्ध विचरता है।

## व्याख्यान

भगवान् के इस कथन का अर्थ करते हुए टीका
कहते हैं कि साधु मासकल्पादि से अधिक किसी स्थान
नहीं रहता। वह अप्रतिवद्ध होकर विहार करता है। स
साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किसी प्रकार का प्र

ग्रन्थ नहीं रखता। 'यह वस्तु मेरी है' इस प्रकार द्रव्य से, 'यह क्षेत्र मेरा है' इस प्रकार क्षेत्र से, कालमर्यादा का उल्लंघन करके रहने में काल और किसी के प्रति मन में राग-द्वेष रखकर भाव से, साधु प्रतिवन्ध नहीं रखता। इस प्रकार साधु द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव सम्वन्धी प्रतिवन्धों से रहित होकर अनासक्त-अप्रतिबद्ध होकर विहार करता करता है।

टीकाकार ने तो मूल सूत्र का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है। परन्तु यह बात भलीभांति हृदय से उतारने के लिए उसका विशेष स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

सामान्य रूप से तो अप्रतिवद्धता वहुत ही मामूली सी वात मालूम होती है, परन्तु गहरा उतर कर विचार किया जाये तो अप्रतिवद्धता शब्द में और उसके भाव में गूढ़ अर्थ छिपा है। अप्रतिवद्धता का अर्थ है, किसी पदार्थ के प्रति आसक्ति न रखना। जो व्यक्ति पंकज के समान जगत् के समस्त पदार्थों में अलिप्त रहता है, वह अप्रतिवद्ध या अनासक्त कहलाता है। पंकज अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न होने वाला कमल। कमल कीचड़ में पैदा होकर भी कीचड़ से अलिप्त रहता है। अगर कमल कीचड़ से प्रतिवद्ध हो जाये तो उसका विकास ही न हो वह सड़ जाये। इसी प्रकार वस्तु संसर्ग से उत्पन्न होने वाले प्रतिवन्ध से आत्मा का विकास रुक जाता है और जव आत्मा अप्रतिवद्ध होकर विहार करता है तो उसका अधिकाधिक विकास होता है।

शास्त्र के इस कथन से तुम अपने विषय में विचार कार सकते हो कि तुम्हें यह मनुष्य जन्मकिस प्रकार मिला

है और किस प्रकार इसका सदुपयोग करना चाहिए ? विचा करो कि यह मनुष्यभव तुम्हें प्रतिबन्ध को मजबूत करने लिए मिला है या प्रतिबन्ध तोड़ने के लिए मिला है ? सूत्रकृतांग सूत्र में इस विषय में कहा है -

**जेसिं कुले समुप्पण्णे जेसिं वा संवसे नरे ।**
**ममाइ लुप्पइ बाले अन्नमन्नेणं मुच्छिए ।।**

—सू. १-अ., १-उ, १-गा. ४

इस सूत्र के अनुसार आत्मा जिस कुल में उत्प होता है अथवा जिसके साथ निवास करता है, उसी के स ममत्व उत्पन्न हो जाता है । इस प्रकार ममता उत्पन्न ह के दो कारण हैं—एक जन्म और दूसरा सहवास । तात यह है कि एक तो जन्मजनित स्नेह उत्पन्न होता है और दूस ...नि... । यह दोनों प्रकार के स्नेह-ममत्व के कारण शास्त्र कहता है, दोनों प्रकार के स्नेह से उत्पन्न होने वा ममत्व आत्मा के लिए बन्धनकारक है । आत्मा अजर-अ है । उसका कोई बन्धन होना ही नहीं चाहिए ।

ज्ञानीजन कहते हैं—हे जीव ! तू इस बात का विच कर कि तू इस संसार में बन्धन तोड़ने आया है या बन्ध में बन्धने के लिए आया है ? जेलखाने में कैदी बेड़ी पहन है सो सजा कम करने के लिए या बढ़ाने के लिए ? इ प्रकार हे जीव ! तू संसार रूपी इस जेलखाने में आया है और कुल तथा पत्नी आदि की बेड़ी तुझे पहनाई गई है। अब तू इस बेड़ी के बन्धन से छूटना चाहता है या अधिक वंधना चाहता ? अरे ! यह मनुष्यजीवन बेड़ी काटने के

लिए मिला है ! और वार-वार यह सुअवसर मिलना कठिन है। इस आत्मा को मनुष्य जन्म का कैसा दुर्लभ अवसर मिला है इस सम्बन्ध में श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में कहा है —

**कम्माणं तु पहणाए आणुपुव्वी कयाइओ ।**
**जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं ॥**

—उत०—३-७ ।

इस गाथा का भाव यह है कि हे आत्मा ! तू किन्हीं प्रधान-प्रशस्त कर्मों के कारण ही धीरे-धीरे यह स्थिति प्राप्त कर सका है। अगर प्रधान कर्म न होते तो गर्भ में जीवित रहना कितना कठिन है, यह विचार कर देख। तेरे साथ ही दूसरे नौ लाख प्राणी जन्मे थे, मगर उन सब में से तू ही अकेला जीवित वच सका। अगर तुझे पुण्य का योग न मिला होता तो तेरी भी वही दशा होती जो तेरे नौ लाख साथियों की हुई। तू भी मर कर समाप्त हो जाता, केवल पुण्य के प्रभाव से ही तू वच पाया है।

प्रश्न किया जा सकता है कि नौ लाख जीव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में, जावरा में एक डाक्टर के साथ मेरी वातचीत हुई थी। डाक्टर ने कहा था कि शुक्र और शोणित को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखा जाये तो उसमें अनेक कीड़े दिखाई देते हैं। यह तो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने की वात हुई। परन्तु अपने को तो भगवान् पर अटल विश्वास है। अतएव हमें मानना चाहिए कि उनका कथन सत्य ही है। भगवान् कह गये हैं कि हमारे साथ नौ लाख संज्ञी जीव उत्पन्न हुए थे, मगर वे नष्ट हो गये और मैं पुण्य के प्रभाव से वच गया। इस

प्रकार प्रधान-शुभ कर्म के प्रताप से ही यह मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ है।

बड़ी कठिनाई से मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। इस कारण उसका दुरुपयोग न करने करने के लिए जैनशास्त्रों में वारम्बार उपदेश दिया गया है। अन्य दर्शन वाले भी मनुष्यजन्म को उत्तम और दुर्लभ मानते हैं। ऐसा दुर्लभ मनुष्यजन्म अपने को सहज ही मिल गया है तो किस प्रकार इसे सफल बनाना चाहिए, यह विचारणीय है। मनुष्यजन्म द्वारा संसारबन्धन को सुदृढ़ करना चाहिए या तोड़ना चाहिए? अगर कोई कैदी अपनी कारागार की अवधि बढ़ाए तो वह मूर्ख कहा जाएगा, मगर तुम क्या कर रहे हो? इस शरीर में तथा संसार में रहना तो एक प्रकार के कारागार में रहना है। जैसे कैदी कारागार में से निकलने की इच्छा रखता है और उसी के अनुसार वर्ताव करता है, इसी प्रकार . संसार रूपी कारागार से निकलने की भावना करो और वैसा ही वर्ताव करो। इस मानव भव में अगर संसार-कारागर से मुक्त होने की चेष्टा न की तो फिर कब करोगे? बड़ी ही कठिनाई से यह जन्म मिला है। फिर भी संसार के बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए इसका सदुपयोग न करके बन्धनों को मजबूत करने में दुरुपयोग करना कितनी बड़ी मूर्खता है। भक्त तुकाराम ने इस विषय में कहा है—

**अनन्त जन्म जरी केल्या तपराशी तरी हान पवसी मानव देह।**
**ऐसा हा निदान लागेलासि हाथी त्याची केली माटी भाग्यहीन।**
**उत्तमाचा सार वेदाचा भंडार जया ने पवित्रे तीर्थे होति।**

**ह्रेणे तुकिया बन्धु आरणी उपमा नाहीं या तो जन्मीं द्य वयांसी।**

भक्त तुकराम कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म मलने पर भी कितने ही भाग्यहीन लोग, मनुष्य जन्म का ूल्य वैसा ही आंकते हैं जैसा मूर्ख मनुष्य हीरे की कीमत त्थर की तरह आंकता है। अभागे लोग मनुष्य जीवन का ीक मूल्य नहीं आंक सकते। मनुष्य, फिर भले ही वह चोर ी क्यों न रहा हो, मनुष्य जन्म का सदुपयोग करके अपना ल्याण कर सकता है। इसके विपरीत, जो मनुष्यजीवन ा दुरुपयोग करता है वह चाहे चक्रवर्ती ही क्यों न हो, व भी संसार के बन्धनों में बन्धता है! अतएव मनुष्यजीवन ा सदुपयोग ऐसे कार्यों में करना चाहिए जिससे सांसारिक न्धनों का विनाश हो।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में, दशवें अध्याय में कहा है—

**वणस्सइकायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे ।।**
**कालमणंतदुरंतयं समयं गोयम ! मा पमायए ।।**

इस गाथा का भावार्थ यह है कि हे गौतम ! अनन्त र्गम काल व्यतीत हो जाने पर यह मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ । इस कथन पर गम्भीर विचार करने से ज्ञात होता है क अनन्त भवों तक तप करते रहने पर भी यह मनुष्य रीर किसी को मिलता और किसी को नहीं भी मिलता। नन्त एकेन्द्रिय जीव ऐसे मौजूद हैं जिन्हें अभी तक द्वीन्द्रिय वस्था तक प्राप्त नहीं हो सकी। परन्तु हमें अपने सत्कार्य ; प्रताप से मनुष्यजन्म मिला है। इस विषय में तुलसी- ास ने कहा है –

चतुराई चूल्हे पड़ो धिग धिग पड़ो आचार।
तुलसी हरि के भजन बिन, चारों वर्ण चमार॥

अर्थात् जो व्यक्ति, चाहे वह, उच्च कुल में जन्मा हो या नीच कुल में उत्पन्न हुआ हो, अगर परमात्मा का भजन नहीं करता तो वह चमार के समान है।

तुलसीदास के इस कथन पर तुम कह सकते हो कि ब्राह्मण चमार कैसे हो सकता है? अन्यथा हम चमार कैसे बन सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर से सबसे पहले यही कहना है कि चमार क्या करता है, सो देखो। चमार चमड़े को पकाता है, रंगता है, साफ करता है, और फिर जूता बना कर तुम्हारे सामने रख देता है। अब तुम परमात्मा का भजन न करके क्या करते हो, सो विचार करो। तु तेल और साबुन कहां मलते हो? शरीर पर ही तेल-साबु लगाते हो न? यह शरीर क्या है? चमड़ा ही। चमार ज ७। तैयार करता है, उससे दूसरों की रक्षा भी होती और वह जो कुछ करता है, दूसरों की रक्षा के लि करता है। मगर तुम्हारे इस शरीर के चमड़े से दूसरों का क्या हित होता है? जो चमार दूसरों के लिए श्रम करता है और स्वयं श्रम करके दूसरों का हित करता है, उसे तो आप नीच समझते हैं और अपने आप को ऊंचा मानते हैं! तुम अपने और चमार के कार्यों की तुलना करो तो पता चलेगा कि चमार क्या बुरे कार्य करता है और तुम क्या अच्छे कार्य करते हो! अतएव परमात्मा का भजन करो। सिर्फ शरीर पर तेल-फुलेल लगाने में ही मत लगे रहो। यदि तुम शरीर पर तेल-फुलेल लगाने में ही लगे रहे और

ात्मा का भजन न किया तो कैसे कहा जायेगा कि तुम ार से अच्छे हो ? तुम्हें यह दुर्लभ मनुष्यजन्म मिला है इसका सदुपयोग करो। इस मनुष्यशरीर द्वारा आत्मा ात्मा के शरण में जा सकता है। परमात्मा इस शरीर लिए जितना सन्निकट है, उतना अन्य किसी भी देह के ् सन्निकट नहीं है। ऐसा होने पर भी तुम मनुष्य- ीर का कैसा दुरुपयोग करते हो, इस बात का विचार ो। कहा भी है –

**दया और धर्म के प्रताप कोटवाल भयो,**
**अब नहीं साधु की संगति सुहात है।**
**रात दिन करे मनसूब धन बांधवे के,**
**आयु घटी जात जाको चित्त नहीं चाह है।**
**हीरन को छाड़ि छाड़ि कांचन को नग लेत,**
**आगे ही हाथ देखो आप खोटा खात है।**
**ऋषीजी कहत हुंडी और की सिकारत है,**
**अपनी हुंडी के दाम रीते रह जात है।।**

अर्थात्–यह मनुष्य शरीर किसके प्रताप से मिला है ? ा कोई मनुष्य शरीर का एक भी अंग बना सकता है ? ादशाह प्रसन्न हो जाये तो कोहीनूर हीरा तो दे सकता है, गर आंख का हीरा अर्थात् आंख का तेज चला गया हो ो वह नहीं दे सकता। विचार करो कि ऐसी तेजस्वी आंख ्हें किसके प्रताप से मिली है ? बादशाह के द्वारा दिये ए कोहीनूर हीरे को कोई फोड़ने लगे तो बादशाह उस पर ाराज होगा या नहीं ? अगर तुम अपनी आंखों का जिसका ूल्य कोहीनूर हीरे की अपेक्षा भी बहुत अधिक है, परस्त्री

या पर पुरुष को दुर्भावना से देखने में दुरुपयोग करो तो क्या परमात्मा तुम से प्रसन्न होगा ? अगर तुम परमात्मा को प्रसन्न करना चाहते हो तो अपनी आंखों का सदुपयोग करो। संसार-बन्धन से मुक्त होने के लिए ही मनुष्य शरीर का सदुपयोग करना चाहिए ।

इस कथन का आशय यह है कि मनुष्य शरीर अप्रतिबद्ध-अनासक्त होने के लिए ही प्राप्त हुआ है । कहा जा सकता है कि अप्रतिबद्ध रहने से हमारे घर का और हमारी जाति का काम कैसे चल सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर ज्ञानीजन यह देते हैं कि किसी भी वस्तु पर जितना ममत्व रखोगे उतना ही दुःख बढ़ेगा । अतएव ममत्व भाव जितना कम हो, उतना ही भला है । साधारणतया प्रतिबन्ध का अर्थ वस्तु का दुरुपयोग है और अप्रतिबन्ध का अर्थ वस्तु का सदुपयोग है । उदाहरणार्थ आंख देखने के लिए और कान सुनने के लिए प्राप्त हुए हैं । परन्तु आंख से क्या देखना चाहिए और कान से क्या सुनना चाहिए, इस सम्बन्ध में विवेक की आवश्यकता है । आंख स्त्री पर कुदृष्टि डालने के लिए और कान पराई निन्दा सुनने के लिए नहीं मिले हैं । फिर भी आंख और कान का सदुपयोग किया जाये तो वह अप्रतिबन्ध है। जो मनुष्य आंख और कान का मूल्य समझता होगा वह उनका दुरुपयोग कदापि नहीं करेगा । शास्त्रकारों का कथन है कि इन्द्रियों को और मन को विपरीत कार्यों से निवृत करके सत्कार्यों में प्रवृत करना अप्रतिबन्ध है । जो पुरुष प्रतिबन्ध से निवृत होकर अप्रतिबन्ध दशा में विचरता है, वह अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है ।

आत्मा को परमात्मा वनाने के लिए अप्रतिबद्ध होने
ावश्यकता है और अप्रतिबद्ध होने के लिए संग का
्याग करने की आवश्यकता है। संग दो प्रकार के हैं।
्क संग तो आत्मा को अधोगति में ले जाता है और दूसरा
ंग उर्ध्वगति में पहुंचाता है। यहां जिस संग के त्याग
रने के लिए कहा गया है वह अधोगति में ले जाने वाला
। प्रश्न हो सकता है कि अधोगति में ले जाने वाला संग
ौनसा है और ऊर्ध्वगति में ले जाने वाला कौनसा है ?
ास प्रश्न के उत्तर में गीता में कहा है—

**ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।**
**संगात्संजायते काम कामात् क्रोधोऽभिजायते ।।**
**क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।**
**स्मृतिभ्रंशाद बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।**

अर्थात् जिस संग के कारण विषयवासना में प्रवृत्ति होती है वह संग अधोगति की ओर ले जाता है। क्योंकि विषयवासना में किसी प्रकार की विघ्नबाधा उपस्थित होने पर क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है। राम महापुरुष थे, फिर भी रावण को उन पर क्रोध हुआ था, क्योंकि सीता को अपनी वनाने में राम बाधक थे। इसी प्रकार मणिरथ युगवाहु का सगा भाई था, फिर भी विषयवासना के कारण क्रुद्ध होकर उसने युगवाहु को मार डाला था। अतएव जिस संगति से क्रोध और कामवासना की उत्पत्ति होती हो, उस संगति का त्याग कर देना चाहिए।

कुसंति में अनेक बुराईयां हैं। बड़े–बड़े मनुष्य भी संग के कारण खराव हो जाते हैं । इसी कारण निःसंग

बनने के लिए कहा गया है। निःसंग बनने के लिए अप्रतिबद्ध होना आवश्यक है। आत्मा को अप्रतिबद्ध बनना ही चाहिए किन्तु आत्मा में दुर्गुणों की ऐसी वासना घर कर बैठी है कि उस वासना के कारण आत्मा अपनी हानि जानते हुए भी हानिकारक कार्यों में ही फंसता जाता है। इसी कारण भक्तजन कहते हैं 'हे प्रभो ! मुझ सरीखा मूर्ख और कौन होगा? कोई कह सकता है कि तुम मूर्ख नहीं हो, मूर्ख तो मच्छली और पतंग हैं जो अपने आप ही जाल में जा फंसते हैं और जलकर मर जाते हैं। परन्तु यह कथन भूलभरा है। मछली और पतंग भी मेरे समान मूर्ख नहीं हैं। मेरी मूर्खता तो इनकी मूर्खता से भी बहुत बड़ी है। अगर मछली को पता हो कि इस आटे के पीछे कांटा है और वह कांटा मेरे लिए प्राणघातक है तो मछली उस कांटे में कदापि न फंसे और अपने प्राणों का नाश न करे। परन्तु मछली तो उसे अपना भक्ष्य समझ कर ही खाने जाती है और रसलोलुपता के कारण फंस जाती है। इसी प्रकार अगर पतंग को पता होता कि दीपक में अग्नि है और उस अग्नि से मैं मर जाऊंगा तो वह दीपक पर मोहित नहीं होता। परन्तु पतंग दीपक को अग्निरूप नहीं समझता। वह तो सुन्दर रूप देखकर ही उस पर गिरता है और अपने प्राणों की आहुति दे देता है। इस प्रकार मछली और पतंग तो अनजान में ही विषय भोग में फंसते हैं परन्तु मैं तो जान-बूझ कर विषयभोग में फंस जाता हूं और इस कारण मैं उनकी अपेक्षा अधिक मूर्ख हूं। मैं जानता हूं कि विषयभोग हानिकारक हैं, फिर भी मैं विषयभोग में प्रवृति करता हूं। अतएव दीपक लेकर कूप में गिरने वाला मुझ-सा मूर्ख और

ौन होगा।

विषयसुख में अनेक हानियां हैं और इसी कारण भग-ान् कहने हैं—'निःसंग बनो।' यह बात कहने में तो बहुत ोटी है और सरल है किन्तु उसका आचरण करना बहुत ठिन है। कहने और करने में बहुत अन्तर होता है। तएव अप्रतिबद्ध और निःसंग बनने के लिए प्रयत्न करने ी आवश्यकता है अगर ठीक प्रयत्न किया तो आदर्श तक हुंचा जा सकता।

तुम्हार पूर्वज तुम्हारे लिए जो उच्च आदर्श उपस्थित र गये हैं, उसी आदर्श का अनुसरण करो। मगर आज-ल तो गौरांग गुरुओं के संग से ऐसा समझा जाने लगा कि मानो पूर्वजों में बुद्धि ही नहीं थी और वे मूर्ख ही । तुम्हारे पूर्वजों की ओर से तुम्हारे लिए त्याग का जो दर्श रखा गया है वह अन्यत्र मिलना अत्यन्त कठिन है। किन तुम आदर्श की ओर ध्यान नहीं देते और इधर-उधर टकते फिरते हो! तुम आध्यात्मिक कार्यों में गति ही नहीं रते। सिर्फ आधिभौतिक कामों में फंसे रहते हो। यद्यपि हस्थ होने के कारण तुम्हें आधिभौतिक कार्यों की सहायता नी पड़ती है, यह स्वाभाविक है, परन्तु इतना ध्यान तो खना चाहिए कि जो आधिभौतिक वस्तु नरक के मार्ग ले जाने वाली है, वह तुम्हारे काम की नहीं। अतएव धिभौतिक कार्यों के साथ आध्यात्मिक कार्य भी अवश्य रने चाहिए।

कहने का आशय यह है कि परमात्मा के शरण में ाने के लिए संग का त्याग करो। विषयसुख के संग में

क्रोध उत्पन्न होने पर हित-अहित का भान नहीं रहता। सुना है, मेवाड में एक पुरुष क्रोध के आवेश में आकर अपनी पत्नी को निर्दयता पूर्वक मारने लगा। यह देखकर उसकी लड़की चिल्लाने लगी—'मेरे पिता, मां को मार रहे हैं। कोई दौड़ो, बचाओ!' लड़की की यह चिल्लाहट सुनकर पिता ने उसके दोनों पैर पकड़े और पत्थर पर पछाड़ दी, नतीजा यह हुआ कि बेचारी लड़की तत्काल मर गई। लड़की को मार डालने के बाद उसने पत्नी के भी प्राण ले लिए और अन्त में आत्मघात करके वह स्वयं भी मर गया। क्रोध का परिणाम कितना भयंकर होता है, यह बात इसी उदाहरण से समझी जा सकती है। अतएव क्रोध से बचने के लिए संग का त्याग करना चाहिए। विषयलालसा का संग होगा तो क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है। क्रोध से सम्मोह उत्पन्न होता है और सम्मोह से स्मृति भ्रष्ट होती जाती है। स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से आप स्वयं नष्ट हो जाता है अर्थात् नीच गति प्राप्त होती है। इसलिए अपने पूर्वजों के उच्च आदर्श को दृष्टि के सामने रखकर अपने जीवन को भी आदर्श के अनुसार उच्च बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरों की बातों में फंस कर अपने पूर्वजों को धिक्कारो मत। उनके महान् आदर्श को सन्मुख रखो और जीवन को उच्च बनाओ। इसी प्रयत्न में कल्याण है।

तुम लोग धार्मिक होने के कारण कदाचित् गोरांग गुरुओं के प्रभाव से बच सके होंगे। परन्तु इस बात का तो खयाल रखते हो कि तुम्हारी संतान पर उनका कैसा प्रभाव पड़ रहा है? कहीं ऐसा तो नहीं कि बकरा निका-लने गये और ऊंट घुस पड़ा? तुम्हारी संतान सुधार है

नाम पर कुधार तो नहीं करती ? अगर तुम्हारी संतान ाधिभौतिक मार्ग की ओर झुक गई हो तो उसे अध्यात्म ी ओर मोड़ना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

कहा जा सकता है कि आजकल की संतति को आध्या- मक बात समझाना कठिन है। इस सम्बन्ध में यही कहना कि बालक जब कुनाइन या कोई कड़वी दवा नहीं ाता तो माता कड़वी दवा के साथ कोई मीठी चीज खाने ो देती है। माता का उद्देश्य मीठी चीज देने का नहीं ोता वरन् कुनाइन या कड़वी दवा देने का और रोग मिटाने ा होता है। इसी प्रकार तुम लोग भी संतानों में आध्या- मक भाव भरने का उद्देश्य रखो। अगर सीधी तरह ाध्यात्मिक भाव नहीं भरा जा सकता तो आध्यात्मिक भाव पी कुनाइन को आधिभौतिक रूपी मीठी चीजों के साथ दो। गर तुम आध्यात्मिक मार्ग की ओर मुड़ोगे और तुम्हारी न्तान आधिभौतिकता की ओर अग्रसर होगी तो दोनों के ोच खींचातात होने की सम्भावना रहेगी। अतएव मतभेद ौर खींचातान पैदा न होने देने के लिए मध्यम मार्ग खोज ाकालना चाहिए।

तुम कह सकते हो—हम ऐसा साहित्य कहां से लायें, जससे हमारा संतानों-युवकों के साथ किसी प्रकार का मत- द न हो। इस प्रश्न के समाधान के लिए वृद्धों और युवकों ो अपने-अपने भीतर समान रूप से आध्यात्मिक संस्कार तारने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तो निश्चत है कि द्धों का काम युवकों के सहयोग के बिना और युवकों का ाम वृद्धों के सहयोग बिना नहीं चल सकता। ऐसी स्थिति

ग-अलग कर डालते हैं। इसी प्रकार जीव आज कर्मबंधन बद्ध है। परन्तु उसे अगर कर्मरहित बना लिया जाये तो व में और शिव अर्थात् सिद्ध में कुछ भी अन्तर नहीं ता। अतएव सिद्धों का स्वरूप समझ कर अपना स्वरूप चानो और सिद्ध बनने का प्रयत्न करो। इस सम्बन्ध में महात्मा ने कहा है—

**अजकुलगत केसरी लहे रे, निजपद सिंह निहार,**
**तिम प्रभु भकते भवी लहे रे आतमस्वरूप संभार,**
**अजित जिन तारजो रे ॥**

इस पद में एक दृष्टान्त देकर बतलाया गया है कि त्मा किस प्रकार अपना स्वरूप भूल गया है और किस कार अपने स्वरूप को जान सकता। इस दृष्टान्त में हा है—एक सिंहनी बच्चे को जन्म देते ही मर गई। च्चा छोटा और निराश्रित था। जंगल में चरता-चरता ह भेड़ों के झुंड से मिल गया। बच्चा किसी का क्यों न ो, मगर सभी उसे प्यार करते हैं, क्योंकि बालक निर्दोष ोता है। सिंह का वह बच्चा भी भेड़ों को प्रिय लगने गा। भेड़ों का मालिक सोचने लगा कि भेड़ों के साथ सिंह का बच्चा रहे तो अच्छा ही है। यह सोच कर वह च्चे को दूध पिलाने लगा। शेर का बच्चा भेड़ों के संसर्ग अपने आपको भेड़ ही समझने लगा। वह भेड़ों के समान ो रहने लगा और वैसी ही चेष्टाएं करने लगा। किसी मय शेर की गर्जना सुन पड़ती तो वह बच्चा भी भयभीत ोकर भेड़ों के साथ भागता। हालांकि सिंह का बच्चा स्वयं र्जना करने वाला और भेड़ों को भगाने वाला था, लेकिन

अपना स्वरूप भूल जाने के कारण ही वह भेड़ों की तरह भयभीत होकर भागता फिरता था।

एक दिन भेड़ों के झुन्ड के साथ वह बच्चा जंगल में गया था। वहां सिंह ने गर्जना की। सिंह की गर्जना सुनकर सब भेड़ें भागी। सिंह का बच्चा भी साथ ही भागा। भागते-भागते उसने विचार किया—जिस सिंह का इतना बहुत डर लगता है, देखें तो सही वह सिंह कैसा है? इस प्रकार विचार कर वह थोड़ी देर रुका। उसने सिंह की ओर देखा और फिर भेड़ों के साथ भागने लगा परन्तु सिंह का स्वरूप उसके हृदय में अंकित हो गया। वह सोचने लगा-सिंह कितना जबर्दस्त है! उसका मुख कितना विकराल और उसकी जीभ कैसी लाल है! और उसकी गर्जना कितनी भयंकर है। ऐसे भयानक सिंह से डरना स्वाभाविक है।

किसी दूसरे दिन वह शेर का बच्चा भेड़ों के साथ नदी में पानी पीने गया। बकरी और भेड़ पानी गन्दा करके नहीं पीतीं, उन्हें धीरे से निर्मल पानी पीना सुहाता है। भेड़ों के साथ शेर का बच्चा भी पानी पीने लगा। पानी पीते समय उसका प्रतिबिम्ब पानी में पड़ा। अपना प्रतिबिम्ब देखकर वह सोचने लगा-मेरा स्वरूप तो कुछ निराला ही है। मैं इन भेड़ों जैसा नहीं हूं। मेरी आकृति भी इन सरीखी नहीं है। मेरी आकृति तो उस दिन के सिंह से मिलती-जुलती है। मेरा मुख भी वैसा ही है और शरीर भी वैसा ही है। मगर देखूं जीभ भी वैसी ही है या नहीं? उसने अपनी जीभ निकाल कर देखी तो वह भी उस सिंह सरीखी दिखाई दी। सिंह का बच्चा सोचने लगा—मेरा

ुंह, मेरा शरीर, मेरी जीभ, मेरी आकृति और मेरी पूंछ
ागैरह सब उस शेर के समान हैं। मगर देखना चाहिए कि
ारी आवाज भी शेर सरीखी है या नहीं? यह सोचकर
ाच्चे ने गर्जना की। गर्जना सुनते ही भेड़ें भयभीत होकर
भागी। भेड़ चराने वाला भी भय के मारे भाग खड़ा
हुआ। सब के भाग जाने से सिंह के बच्चे को विश्वास हो
ाया कि मैं सिंह ही हूं भेड़ नहीं हूं।

अब इस शेर के बच्चे को भेड़ों की टोली में रखा जाये तो क्या वह रहना पसन्द करेगा? नहीं।

भक्त कहता है जैसे सिंह का बच्चा भ्रम से भेड़ के समान वन गया था, किन्तु सिंह को देखकर वह अपने स्वरूप को पहचान सका, इसी प्रकार यह आत्मा भी भ्रम के कारण भेड़ के समान बन गया है। अगर आत्मा स्थिर होकर परमात्मा का ध्यान धरे तो अपने स्वरूप को पहचान सकता है और परमात्मा के समान बन सकता है। परमात्मा का ध्यान करने के लिए एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है। एकाग्रता-पूर्वक परमात्मा का ध्यान किया जाये और यह विचार किया जाये कि मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? कहां जाने वाला हूं? मैं देह नहीं, देही हूं, मैं कान नहीं वरन् कान से काम लेने वाला हूं, इत्यादि, तो आत्मज्ञान प्रकट हो सकता है और आत्मज्ञान होने से परमात्मा को पहचाना जा सकता है। आत्मा का स्वरूप जानने का प्रयत्न करो तो सिद्धगति प्राप्त कर सकते हो। तुम्हारे जो वाल वचपन में काले थे, वे सफेद होकर सूचना दे रहे हैं कि हम तो अपनी गति प्राप्त कर रहे हैं, तुम अपनी गति

क्यों नहीं प्राप्त करते ? इस उपदेश का अर्थ यह नहीं कि तुम अपना शरीर नष्ट कर डालो। इसका अर्थ यह है कि आत्मा और शरीर को अलग-अलग समझो और यह मानो कि मैं शरीर नहीं, शरीर में रहने वाला आत्मा हूं। इस प्रकार देही होने पर भी तुम देह के प्रतिबन्ध में पड़े हो। इस प्रतिबन्ध को दूर किये विना आत्मा सिद्धगति प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव प्रतिबन्ध दूर करने के लिए तथा आत्मा को अप्रतिबद्ध बनाने के लिए एकाग्रता-पूर्वक परमात्मा का ध्यान करो। एकाग्रता-पूर्वक परमात्मा का ध्यान करने से आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाएगा। आत्मा का वास्तविक कल्याण अपना स्वरूप समझने में और परमात्मदशा प्राप्त करने में ही है।



# एकतीसवां बोल

## विविक्त शयनासन

तीसवें बोल में अप्रतिबद्धता पर विचार किया गया है। जो पुरुष अप्रतिबद्ध होता है या होना चाहता है, वह स्त्री, पशु और नपुंसक वाले स्थान में शयन-आसन नहीं करता। अतएव गौतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न करते हैं कि विविक्त शयनासन का सेवन करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

## मूलपाठ

प्रश्न—विवित्त सयणासणसेवणयाएणं भंते जीवे किं
ाणयई ?

उत्तर—विवित्तसयणासणसेवणयाए णं चारित्तगुत्तिं
ाणयइ, चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारेदृढ़चरित्ते एगन्त-
ाए मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ ॥३१॥

## शब्दार्थ

प्रश्न - भगवन् ! एकान्त शयन और आसन के सेवन
े जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर - गौतम! विविक्त शयनासन से अर्थात् स्त्री आदि
के संसर्ग रहित शयन और आसन का सेवन करने से चारित्र
की रक्षा होती है, चारित्रशील बनने से जीव आहार सम्बन्धी
आसक्ति त्याग कर चारित्र में दृढ़ होता है। इस प्रकार
एकान्तप्रिय और मोक्ष भाव को प्राप्त जीवात्मा आठों प्रकार
के कर्मों के बन्धन से मुक्त होता है।

## व्याख्यान

सूत्रपाठ के सम्बन्ध में विचार करने से पहले विविक्त
शयनासन के अर्थ पर विचार करना चाहिए।

विवक्त शब्द का अर्थ है रहित अथवा एकान्त।
साधु हो तो स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित और यदि
साध्वी हो तो पुरुष, पशु आदि से रहित शयन, आसन और
उपलक्षण से स्थान का सेवन करना चाहिए।

शास्त्र में मुख्य रूप से पुरुषों को लक्ष्य करके उपदेश दिया गया है, और इसी कारण सूत्र पाठ में साधु को स्त्री, पशु और नपुंसक वाले शयन, आसन तथा स्थान का सेवन न करने के लिए कहा गया है। स्त्री, पुरुष और नपुंसक वाले शयन, आसन और स्थान में साधु के ब्रह्मचर्य की भलीभांति रक्षा नहीं हो सकती।

साधु को किस उद्देश्य से विविक्त शयन-आसन का सेवन करना चाहिए? क्या साधु को स्त्री, पशु और नपुंसक के साथ किसी किस्म का द्वेष है अथवा किसी प्रकार की अरुचि है? अगर अरुचि के कारण ही साधु विविक्त शयन-आसन का सेवन करते हों तो अनेक गृहस्थ भी ऐसे हैं जो क्लेश उत्पन्न होने के कारण स्त्री का मुंह देखना भी पसंद नहीं करते। उदाहरणार्थ सती अंजना पर पवनकुमार क्रुद्ध हो गये थे अतएव वह अंजना का नाम सुनना नहीं चाहते थे। इतना ही नहीं, जिस द्वार में से अंजना उनका दर्शन करती थी, वह द्वार भी उन्होंने बन्द करवा दिया था। क्या इस प्रकार से वर्त्ताव को विविक्त शयनासन कहा जा सकता है? यदि नहीं, तो विविक्त शयनाशन किसे कहना चाहिए। जब साधुओं को किसी भी प्राणी पर द्वेष नहीं है, सब जीवों के प्रति समभाव है, और वे स्त्री, पशु और नपुंसक आदि को आत्मतुल्य गिनते हैं, तो विवक्त शयनासन का यहां क्या अभिप्राय है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधुओं को एकान्त में रहना चाहिए, क्योंकि सब लोगों का चरित्र सरीखा नहीं होता। अगर साधुओं के लिए एकान्त में रहने का नियम

हो और वे स्त्री, पशु और नपुंसक वाले स्थान में रहने गें तो ब्रह्मचर्य का घात होने की सम्भावना है। हालांकि जय सेठ और विजया सेठानी एक ही जगह शयन करते ए भी ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, यह वात प्रसिद्ध है। न्तु यह एक अपवाद है। सभी लोग ऐसे नहीं हो सकते तएव ब्रह्मचर्य सम्बन्धी जो मर्यादा बांधी गई हैं, उसका लन करना उचित और आवश्यक है क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तादेवेतरे जनाः।

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, दूसरे ोग वैसा ही आचरण करते हैं।

अतएव विजय सेठ और विजया सेठानी के समान क्ति होने पर भी मर्यादा का पालन करना आवश्यक है। र्यादा का पालन न करने से अन्य लोगों को हानि होने ी संभावना रहती है। क्योंकि जिनमें ऐसी शक्ति नहीं ती वे भी इस प्रकार के उदाहरण की आड़ में ऐसा काम रने लगते हैं और अन्त में पतित हो जाते हैं। सभी थ्वी के सहारे टिके हैं। आसन आदि होने पर भी आधार ा पृथ्वी का ही है। परन्तु कोई महात्मा अगर अपने लब्धि- ल से पृथ्वी का सहारा लिये बिना ही स्थिर रह सकता तो उसे अपवाद कहना चाहिए। मगर इस अपवाद का ुकरण करने वाले दूसरे लोग भी यदि पृथ्वी का सहारा ाए बिना स्थिर रहने का प्रयत्न करें तो वे नीचे गिर ाएंगे इसी प्रकार कोई संयमी मनुष्य, स्त्री के साथ रहता ा भी संयम का पालन करता है, मगर यह अपवाद है र वह सभी के लिए उत्सर्ग मार्ग नहीं बन सकता। अत-

एवं जहां स्त्री, पशु या नपुंसक का वास हो, वहां नहीं रहने का नियम सभी के लिए बना दिया गया है।

शास्त्र में जो उपदेश दिया गया है वह जगद्गुरु का दिया हुआ उपदेश है। जगद्गुरु किसी व्यक्ति-विशेष को ही लक्ष्य करके उपदेश नही देते, वरन जनसमाज को दृष्टि में रख कर उपदेश देते हैं। इसलिए यह कहा गया है कि साधु को विविक्त शयनाशन का सेवन करना चाहिए।

यह तो हुई विविक्त शयनाशन के सेवन की। परन्तु विवक्त के सेवन से क्या लाभ होता है? इस विषय में कहा गया है कि विविक्त शयनासन के सेवन से चारित्र की गुप्ति रक्षा होती है।

यह उपदेश ब्रह्मचर्य को दृष्टि में रखकर ही दिया गया है। अर्थात् यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी को एकान्त में रहना चाहिए।

ब्रह्मचारी को ऐसे स्थान में नहीं रहना चाहिए, जहां स्त्री, पशु या नपुंसक रहते हों। यही नहीं, ब्रह्मचारी को विकार उत्पन्न करने वाला आहार भी नहीं लेना चाहिए। जिस आहार के सेवन से विकार पैदा होता है वह विकृत आहार कहलाता है। घी, दूध, तेल वगैरह वस्तुएं विकृत उत्पन्न करती है, अतः उन्हें 'विगय' कहते हैं। शास्त्र में विगय वस्तुओं के त्याग का खास तौर पर उपदेश दिया गया। निशीथसूत्र में कहा है—

**'जे भिक्खू आयरिय उवज्झायं अदिन्नंविगयं आहारं वा साहिज्जई।'**

अर्थात्--अगर किसी साधु को विगय अर्थात् विकृत वस्तु लेने की आवश्यकता हो तो उसे आचार्य तथा उपाध्याय की आज्ञा लेकर ही विकृत का आहार करना चाहिए। अगर कोई साधु, आचार्य या उपाध्याय की आज्ञा लिए विना ही विकृत उत्पन्न करने वाले पदार्थ स्वयं खाता है या दूसरों को खिलाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है तो वह साधु दन्ड का पात्र है।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए तथा स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए जीभ पर अंकुश रखने की बड़ी आवश्यता है। जीभ पर अंकुश न रखने से अनेक प्रकार की हानियां होती हैं। जीभ अंकुश रखने वाले मनुष्य को शायद ही कभी वैद्य या डाक्टर के पास जाने की आवश्यकता पड़ती है।

लोगों से पूछा जाए तो वे यही कहेंगे कि हम जीने के लिए खाते हैं। अगर उनकी परीक्षा की जाये तो जीने के लिए खानेवाले बहुत कम निकलेंगे। अगर तुम जीने के लिए ही खाते हो तो क्या भोजन करते समय अपने डाक्टर बनकर क्या इस बात का विवेक रखते हो कि कौन-सी वस्तु भक्ष्य और कौन-सी अभक्ष्य है? किससे स्वास्थ्य का सुधार और किससे स्वास्थ्य का नाश होता है? अगर तुम भोजन के विषय में यह विवेक नहीं रखते तो किस प्रकार कहा जा सकता है कि तुम जीने के लिए खाते हो? सचमुच ही अगर तुम जीने के लिए खाते हो तो स्वास्थ्य को हानि पहुंचाने वाली और जीवन को भ्रष्ट करने वाली वस्तुएं कैसे खा सकते हो? जैसे कोई भी मनुष्य अपरिचित

पुरुष को अपने घर में सहसा स्थान नहीं देता, उसी प्रकार जिस वस्तु के गुण-दोष का तुम्हें पता नहीं है उसे अपने पेट में स्थान नहीं दे सकते । अगर तुम अपने पेट में अनजान चीज ठूंस लेते हो तो तुम्हारा पेट को Dinner-Box) भोजन पेटी के सिवाय और क्या कहा जा सकता है?

एक विद्वान् का कथन है कि संसार में खा-खा कर जितने लोग मरते हैं, भूख से उतने नहीं मरते । लोग कंठ तक ठूंस-ठूंस कर खाते हैं और फिर डाक्टर की सेवा में जाते हैं। इस प्रकार ज्यों-ज्यों डाक्टर बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों रोग बढ़ते जाते हैं। डाक्टरों के बढ़ने से रोगों की संख्या घटी नहीं है इतनी-सी चीज खाने से क्या हुआ जाता है ? अगर कुछ हो भी गया तो डाक्टर की दवा लेंगे। ऐसा विचार कर लोग अधिक खा जाते हैं और फिर बीमार पड़ते हैं । यह तो पड़ौसी के भरोसे अपना घर खुला रखने के समान है। आज तो प्रायः ऐसा देखा या सुना जाता है कि जो मनुष्य जुदा-जुदा प्रकार की जितनी खाद्य चीजें खाता है, वह उतना ही बड़ा आदमी कहलाता है। मगर शास्त्र कहता है कि जो जितना ज्यादा त्याग करता है वह उतना ही बड़ा पुरुष है । शास्त्र में आनन्द श्रा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि बारह करोड़ स मोहरों का तथा चालीस हजार गायों का स्वामी होते भी उसने परिमित द्रव्य खाने-पीने की ही मर्यादा व थी । इसी प्रकार शास्त्र की दृष्टि से जो पुरुष खानपान जितना संयम रखता है, वह उतना ही महान् गिना जाता है

जीभ पर अंकुश रखने में स्वास्थ्य भी अच्छा रह

है। तुम लोगों को जैसा और जितना खाना-पीना मिलता है, वैसा और उतना किसानों को नहीं मिलता, फिर भी किसी समय तुम्हारी और किसान की कुश्ती हो तो कौन जीतेगा ? यह तो स्वयं तुम्हीं कहोगे कि किसान हमारी अपेक्षा अधिक स्वस्थ और बलवान् है ।

इस प्रकार अधिक खाने से स्वास्थ्य सुधरता नहीं, बिगड़ता है। विकृत भोजन करने से स्वास्थ्य को हानि होती है और साथ ही चारित्र की हानि होती है। इसलिए भगवान् ने कहा है कि जिस वस्तु के खाने से विकार उत्पन्न होता हो वह वस्तु साधु को नहीं खानी चाहिए। साधु को तो वही और उतना ही भोजन करना चाहिए, जिससे शरीर की रक्षा हो सकती हो ! शरीर को बढ़ाने के लिए अथवा स्वाद के लिए साधु को भोजन कराना उचित नहीं है ।

कहा जा सकता है कि स्वाद के लिए कोई चीज न खाना कैसे संभव हो सकता है ? खट्टी या मीठी चीज खाने से खट्टा या मीठा स्वाद आये विना नहीं रह सकता। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि, कल्पना करो, तुम्हें वैद्य ने शहद के साथ खाने के लिए कोई दवा दी। तुमने शहद के साथ दवा खाई। शहद तो अपना स्वाद देता ही है, परन्तु तुमने शहद स्वाद के लिए खाया है या दवा के लिए खाया है। तुमने दवा का सेवन करने के लिए ही शहद खाया है। इसी प्रकार साधुओं का भोजन करने का मुख्य उद्देश्य शरीर को टिकाए रखना है, स्वाद लेना नहीं।

तुम लोग खाने में जितना आनन्द मानते हो, उससे अनन्त गुना आनन्द साधुजन संयम में मानते हैं। यही कारण

है कि वे खाने के लिए संयम नहीं गंवाते । उनकी दृष्टि में खाने–पीने की अपेक्षा संयम की कीमत अनेकगुनी अधिक है। साधुजन संयम और चरित्रपालन में सावधान रहते हैं और मुक्ति में आनन्द मानते हैं।

मान लो, तुम्हारे पास मूल्यवान् हीरा है। तुम्हें विश्वास है कि इस हीरे की कीमत से तुम अपने सब संकट हटा सकते हो । ऐसी दशा में क्या तुम वह हीरा एक मुट्ठी चनों में बेच दोगे ? नहीं । इसी प्रकार जिन मुनियों को यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि संयम समस्त संकटों से छुटकारा दिलाने वाला है और आठ कर्मों को नष्ट कर मुक्ति दिलाने वाला है वे मुनि क्या खानपान के लिए संयम का परित्याग कर सकते हैं कदापि नहीं ।

कहने का आशय यह है विविक्त शयनासन का सेवन करने से चरित्र की गुप्ति अर्थात् रक्षा होती है। चरित्र की रक्षा होने से आहार सम्बन्धी आसक्ति का नाश हो जाता है और चारित्रपालन में दृढ़ता आती है। इस प्रकार संग रहित शयन-आसन का सेवन करने वाला तथा मोक्ष-भाव को प्राप्त जीवात्मा आठों प्रकार के कर्मों के बन्धन से मुक्त होता है ।

एक भाई ने अभी प्रश्न किया है। वे कहते हैं—मैंने एक वक्ता से यह सुना है कि सांसारिक कर्म नष्ट हो जाते हैं और जैन शास्त्र कहता है कि कृत कर्मों का नाश नहीं होता । इन दोनों में कौन-सी बात सही है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो कर्म जिस प्रकार किया जाता है, वह उसी प्रकार भोगना पड़ता होता तो भगवान् यह क्यों

कहते कि विविक्त शयनासन का सेवन करने वाला आठ कर्मों की गांठ तोड़ सकता है ? किये हुए कर्मों का भोगना अनिवार्य होता तो इस कथन का क्या आशय है ? इसके अतिरिक्त अगर कर्मों की निर्जरा न हो सकती हो तो फिर तप किस लिए किया जाता ? इससे कर्मों की निर्जरा होना सिद्ध होता है ।

अब दूसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि तप आदि के द्वारा कर्मों की निर्जरा हो जाती है तो फिर 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात् किये हुए कर्मों का बिना भोगे छुटकारा नहीं मिलता, यह क्यों कहा गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह दोनों बातें सही हैं । मैंने एक कविता सुनी है—

**कर्मरेख नहीं मिटे करो कोई लाखों चतुराई ।**

इस प्रकार एक ओर तो यह कहा जाता है कि कृतकर्म भोगने ही पड़ते हैं और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है । इस प्रकार परस्पर विरोधी दो बातें सुनने में संदेह उत्पन्न होता है । ऐसा होना स्वाभाविक है । परन्तु यह विषय अगर भलीभांति समझ लिया जाए तो संशय का कोई स्थान नहीं रह जाता ।

शास्त्र में स्पर्शबन्ध, बद्धबन्ध, निधत्तबन्ध और निकाचित्तबन्ध के भेद से कर्मों का बन्ध चार प्रकार का बतलाया गया है । पहला स्पर्शबन्ध सुइयों के ढ़ेर के समान होता है । सुइयों का ढ़ेर करने में कुछ देर लगती है पर बिखरने में देर नहीं लगती, क्योंकि सुइयों का आपस में स्पर्श ।

है–बन्ध नहीं हुआ। दूसरा बद्धबन्ध है। बन्ध तो होता है मगर निर्जरा होने में देर नहीं लगती। अर्थात् सुइयों के उस ढेर को डोरे से बांध दिया जाता है मगर वह डोरा सरलता से हटाया जा सकता है, और सुइयों का ढेर फिर जल्दी से बिखर जाता है। इस प्रकार का बन्ध बद्धबन्ध कहलाता है, तीसरा निधत्तबन्ध है। यह बन्ध कुछ मजबूत होता है जैसे उसी सुइयों के ढेर को लोहे के तार से मज़बूत बांध दिया जाए। ऐसा करने पर सुइयां उस ढेर से निकल सकती हैं और लोहे का तार भी छट सकता है अलबत्ता लोहे का तार छटने में कुछ कठिनाई अवश्य होती है। चौथा निकाचितबन्ध है। यह बन्ध बहुत गाढ़ा होता है। जैसे सुइयों का ढेर आग में तपा लिया जावे और घन से पीट–पीट कर उन्हें एकमेक कर दिया जाये। इस प्रकार कर्म का बन्ध चार प्रकार का है। इनमें से तीन प्रकार के बन्धे हुए की पूरी तरह निर्जरा होती है। निकाचित कर्म की निर्जरा तो होती है किन्तु उसमें स्थिति और रसघात होता है। जैसे पहले जमाने में सुई बनाने में विलम्ब लगता था, मगर अब विज्ञान की वृद्धि हो जाने के कारण विलम्ब नहीं लगता। इसी प्रकार निकाचित कर्म भोगने तो पड़ते हैं मगर थोड़े समय में उनका भोग हो जाता है। निकाचित कर्म स्थिति और रस से तो कम किये जा सकते हैं, परन्तु प्रकृति और प्रदेश से कम नहीं हो सकते। इस प्रकार कर्म को निर्जरा का होना भी सत्य है और भोग विना छुटकारा न होना भी सत्य है। शास्त्र का कथन सापेक्ष है और सापेक्ष दृष्टि से दोनों बातें सत्य हैं।

कर्म भोगने पड़ते हैं, यह सुनकर किसी को घबरा

ाने की जरूरत नहीं है। कर्मों को भोगना अर्थात् पाप ा नाश करना। अतएव कर्मों को भोग कर पाप से मुक्त ोने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए। हां, ऐसा नहीं होना ाहिए कि पहले तो परोपकारी प्रवृत्ति की जाये और फिर सका प्रायश्चित किया जाये! यह तो वैसी चेष्टा है कि हले तो चोर को घर में जानबूझ कर घुसने दिया जाये ौर फिर बाहर निकालने का प्रयास किया जाये! जान-ूझ कर अपने घर में चोर को घुसनें देना मूर्खता है। ोग घर में चोर न घुसने देने के लिए सावधानी रखते हैं। सी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी ऐसी सावधानी रखनी ड़ती है कि पाप कार्य न होने पावे। सावधानी रखने पर ी अगर पापकार्य हो जाये तो उसका प्रायश्चित करके ऐसा यत्न करना चाहिए कि भविष्य में फिर पापकार्य न हो के। इस विषय में तुमसे और कुछ न बन सके तो जब ाथे पर दुःख आ पड़े तो कम से कम इतना अवश्य मानो क जो कुछ होता है, भले के लिए ही होता है।

कहने का आशय यह है कि जो दुःख होने वाला है, ह तो होगा ही। परन्तु उस दुःख के समय जो कुछ होता ै सो भले के लिए ही होता है, ऐसा समझ कर दुःख में ी सुख मानो। इस प्रकार दुःख के समय सुख समझने से ाठों कर्मों की गांठ ढ़ीली होती है। दुःख भोगते समय ाय-तोबा मचाने से अधिक दुःख होता है। अतएव दुःख ोगते समय घबराना उचित नहीं है। चित्त को प्रसन्न खकर परमात्मा का शरण ग्रहण करने से आत्मा का कल्याण वश्य हो सकता है।



# बत्तीसवां बोल

## विनिवर्त्तना

---

विविक्त शयन और आसन का सेवन करने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम विषयवासना से विमुख होना चाहिए। अतः गौतम स्वामी भगवान् से विनिवर्त्तना के विषय में प्रश्न करते हैं।

### मूलपाठ

**प्रश्न—विणियट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?**

**उत्तर—विणियट्टणयाए पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ पुव्वबद्धाणं य निज्जरणयाए तं नियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरंतं संसारकतारं वीइवयइ ॥३२॥**

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! विनिवर्त्तन से अर्थात् विषय-सम्बन्धी विरक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—हे गौतम ! विनिवर्त्तन से नवीन पापकर्म नहीं होते और पहले के बन्धे हुए टल जाते हैं, तत्पश्चात् जीव चारगति रूप संसार-अटवी को लांघ जाता।

### व्याख्यान

विषय-वासना से विमुख होना विनिवर्त्तना कहलाता है। जो पुरुष विविक्त शयन और आसन का सेवन करता है, वह विषयवासना से अवश्य पराङ्मुख हो जाता है।

क्योंकि विविक्तशयनासन का सेवन करने से चारित्र की रक्षा होती है और जो चारित्र की रक्षा करना चाहता है वह विषयवासना से पराङ्मुख होता ही है। इस प्रकार जो आत्मा विषयों की ओर दौड़ा जा रहा है, उसे उस ओर से रोक देना ही विनिवर्त्तन कहलाता है।

जैसे पानी स्वभावतः नीचे की ओर वहता है उसी प्रकार पूर्व संस्कारों के कारण आत्मा विषयों की ओर दौड़ता है। आत्मा को विषयों की ओर जाने से रोकना ही यहां विनिवर्त्तना का अर्थ है। इस विनिवर्त्तन से अर्थात् विषय विरक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ? गौतम स्वामी ने भगवान् से यही प्रश्न किया है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि विषयों से विरक्त होने वाला मनुष्य पापकर्मों में प्रवृत नहीं होता। विनिवर्त्तन करने वाला हमेशा इस बात की सावधानी रखता है कि मुझसे कभी कोई पापकर्म न हो जाये ! वह पहले के पापकर्मों की निर्जरा करने का भी प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह पापकर्मों से निवृत होकर निष्पाप वनता है और निष्पाप होने से जीव मनुष्य, तिर्यंच, देव तथा नरक इन चार गति रूप संसार—अटवी को पार कर जाता है। यह मूल सूत्र का अर्थ हुआ। अब इस पाठ के सम्वन्ध में यहां विशेष विचार किया जाता है।

संसारी जीव विषयों की ओर दौड़ता रहता है। साधारण कीड़े भी विषयों की तरफ दौड़ते हैं तो मनुष्य, जिसका इतना अधिक ज्ञानविकास हो चुका है विषयों की ओर दौड़े तो आश्चर्य ही क्या है। यह वात अलग है कि

शास्त्र श्रवण या पठनपाठन करते समय थोड़ी देर के लिए मनुष्य की मति ठीक रहती है, परन्तु संसार के अधिकांश मनुष्यों की मति विषयों की तरफ ही बनी रहती है। महान् त्यागियों का मन भी क्षण भर में विषयों की ओर आकर्षित हो सकता है। इस प्रकार के विषयों की ओर से जो विमुख रहता है वह महान् विजेता है। दुस्तर नदी को पार करना कठिन है तो फिर विषयवासना रूपी नदी को पार करना तो बहुत कठिन है। अगर कोई मनुष्य पूर आई नदी को पार कर जाये तो वह कितना बड़ा तैराक कहलाएगा?

इस विषय में महाभारत में एक उदाहरण प्रसिद्ध है। एक बार श्रीकृष्ण अमरकंका नगरी के राजा पद्मनाभ को जीत कर लौट रहे थे। पाण्डव भी उनके साथ थे। श्रीकृष्ण ने पाण्डवों से कहा तुम लोग आगे चलो, मैं पीछे आता हूं। पाण्डव आगे-आगे चलने लगे। रास्ते में उन्होंने देखा कि गंगा नदी में तेज पूर आ रहा है। उन्होंने नाव पर चढ़कर गंगा नदी पार की और परले पार पहुंच गए। उसके बाद उन्होंने विचार किया जिन्होंने पद्मनाभ राजा को हराया है वे श्रीकृष्ण महाराज कैसे पराक्रमी हैं और वे गंगा को किस प्रकार पार करते हैं, आज इस बात की परीक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार विचार कर उन्होंने नाव छिपा दी। विनाशकाले विपरीत बुद्धिः इस इस कहावत के अनुसार पाण्डवों को उलटी बुद्धि सूझी!

पीछे से श्रीकृष्ण गंगा नदी के किनारे आये। उन्होंने देखा, गंगा में खूब जोरदार पूर आया है। गंगा को पार करने का और कोई उपाय नजर नहीं आता। ऐसी दुस्तर

गंगा नदी को पाण्डव किस प्रकार पार कर गये ! और अब वे गंगा नदी को पार कर गए तो पद्मनाभ से कैसे हार गए ? इस दुस्तर महानदी को पार कर जाने वाला व्यक्ति पद्मनाभ से पराजित हो जाये, यह सम्भव नहीं है। इस प्रकार विचार कर श्रीकृष्ण ने एक हाथ में रथ लिया और दूसरे हाथ से नदी का पानी काटते हुए गंगा पार करने लगे । नदी में तैरते-तैरते बीच में उन्हें कुछ थकावट हुई। उस समय गंगा देवी ने प्रकट होकर उनके विश्राम के लिए स्थान बना दिया और श्रीकृष्ण से कहा—'अगर आप आज्ञा दें तो मैं आप के लिए मार्ग बना दूं अथवा नौका आदि की व्यवस्था कर दूं ।' श्रीकृष्ण बोले मुझे किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं है। अगर मैं नाव आदि की सहायता लेकर नदी पार करूंगा तो इसमें क्या विशेषता रहेगी ? अपने पुरुषार्थ से ही मुझे नदी पार करनी चाहिए।

श्रीकृष्ण अपने पुरुषार्थ के द्वारा गंगा नदी को पार करने में समर्थ हुए। पाण्डव उन्हें प्रणाम करके कहने लगे–आप धन्य हैं जो अपने पुरुषार्थ के प्रताप से इस महानदी को पार करने में समर्थ हो सके।

श्रीकृष्ण ने उत्तर में कहा इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? जब तुम लोग ही गंगा पार कर सके तो मेरे पार करने में आश्चर्य ही क्या है ?

पाण्डव बोले—हमने तो नौका से नदी पार की है।

श्रीकृष्ण ने कहा—तो फिर मेरे लिए नौका क्यों नहीं भेजी ?

विषयलालसा से ही प्रत्येक पाप की उत्पत्ति होती है। मिं विषयलालसा नहीं होती वह पापकर्म भी नहीं करता। एव विषयवासना से हटना पापकर्मों से हटने के समान पाप से दूर होने वाले जीवात्मा दो प्रकार के होते हैं- सिद्ध होता है और दूसरा साधक होता है अर्थात् एक तो जो विषयवासना से विमुख होकर पापरहित हो चुके और दूसरे वे हैं जो विषयवासना से विमुख होकर पाप- त होने का प्रयत्न करते हैं। जो सिद्ध हो चुके हैं उनकी चर्चा ही नहीं है क्योंकि सिद्ध के लिए किसी प्रकार उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती। उपदेश तो साधक लिए ही दिया जाता है। साधक को उन्मार्ग की ओर से बचने के लिए उपदेश दिया जाता है। साधकों यहां उपदेश दिया गया है कि अगर तुम पाप से बचना ते हो तो विषय वासना का त्याग करो।

पाप सबको बुरा लगता है। कोई मनुष्य पापी कह- ा पसन्द नहीं करता। किसी को पापी कहा जाये तो नाराज हो जाता है। इस प्रकार कोई पापी नहीं बनना ता। परन्तु शास्त्र का कथन है कि वास्तव में पापी न ा हो तो विषयवासना का त्याग करो। जो पुरुष विषय- ना का त्याग न करके भी अपने को निष्पाप कहलवाना ता है, वह चोरी करता है, भीतर तो और कुछ रखना बाहर और कुछ दिखलाना यह चोरी है। इस प्रकार चोरी न करते हुए विषयवासना से विमुख होने का न करना चाहिए।

पाप मुख्यरूप से अठारह प्रकार के हैं। यह सब विषयवासना से हीं उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ—

हिंसा का पाप वही व्यक्ति करता है, जिसमें विषयलालसा होती है। प्राणियों के प्राणों को नष्ट करना हिंसा है। परन्तु इस क्रिया को हिंसा के अन्तर्गत कब माना जा सकता है ? इस सम्बन्ध में कहा है—

**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यरोपणं हिंसा।**

अर्थात्—प्रमाद से या विषयपोषण के लिए किसी प्राणी के प्राणों को नष्ट करना हिंसा-पाप है। अगर जीव मर जाने मात्र से हिंसा को पाप मान लिया जाये तो तेरहवें गुणस्थान में स्थित पुरुष के शरीर से भी जीव मरते हैं, अतएव उन्हें भी हिंसा का पाप लगना चाहिए क्योंकि योगों की चपलता से जीवों को आघात पहुंचना या उनकी मृत्यु हो जाना स्वाभाविक है। देखना तो यह चाहिए कि जीव के प्राणघात में हेतु क्या है ? जो हिंसा प्रमाद से या विषय पोषण के उद्देश्य से की जाती है वही हिंसा पाप के अन्तर्गत कही जा सकती है।

कुछ लोगों को ऐसी शंका होती है कि जब सम्पूर्ण आकाश जीवों से व्याप्त है और शरीर के द्वारा जीवों का मरण होना भी स्वाभाविक है, तो फिर पूर्ण अहिंसक किस प्रकार हो सकते हैं ? इस शंका का समाधान यह है कि मुनि के शरीर से जीवों का मर जाना स्वाभाविक है, परन्तु पहले यह देखना चाहिए कि उनका उद्देश्य क्या है ? क्या उनका उद्देश्य जीवों को मारना है ? वस्तुतः हिंसा वही है जो प्रमाद के योग से की जाती है या विषयपोषण के लिए की जाती है। इसके अतिरिक्त जो हिंसा होती है उसकी गणना पाप में नहीं की जाती। उदाहरणार्थ—कोई मुनि

यदि ईर्यासमितिपूर्वक यतना में चल रहा हो फिर भी कोई जीव अचानक उसके पैर के नीचे आकर मर जाये तो उसमें हिंसा का पाप लगना नहीं माना जाता। इसके विपरीत अगर कोई मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यतना से न चल रहा हो और कोई जीव न मरे तो भी उसे हिंसा का पाप लगता है क्योंकि हिंसा प्रमाद से होती है अर्थात् प्रमाद हिंसा है।

हिंसा का पाप विषयलोलुपता से ही होता है। इसी प्रकार असत्य आदि दूसरे पाप भी विषयलोलुपता के कारण ही उत्पन्न होते हैं। इन पापों से बचने के लिए विनिवर्त्तना करने की अर्थात् विषयसुख से विमुख होने की आवश्यकता है। विषयवासना से विमुख हो जाने वाला पापकर्मों में प्रवृत्ति नहीं करेगा।

पूर्ण सत्य तो केवल आदर्श रूप है। जो वस्तु जैसी हो, वह वैसी ही कही जाये अर्थात् बोलने में एक भी अक्षर का अन्तर न पड़े, वह पूर्ण सत्य है। पूर्ण ज्ञानी ही पूर्ण सत्य कह सकते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि पूर्ण ज्ञानी ही अगर पूर्ण सत्य बोल सकते हैं तो दूसरे लोगों को कैसा सत्य बोलना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर से शास्त्रकार कहते हैं कि हृदय में विषय भावना या वास्तविकता के विरुद्ध बोलने का भाव न हो तो इस दशा में जो कुछ भी बोला जाता है, वह भी सत्य ही है। श्री आचारांग सूत्र में कहा है—

**समयं ति मन्नमाणे समया या असमया वा समया होई उवेहाए।**

अर्थात्—मन में ममता हो फिर मुख से कदाचित् विषम शब्द भी निकल जाये तो वह भी सत्य ही है, क्योंकि बोलने वाले का आशय खराब नहीं है।

शास्त्र के इस कथन से यह बात स्पष्ट समझी जा सकती है कि खराब आशय और विषयवासना रखे बिना जो कुछ बोला जाता है वह भी सत्य है। जो इस प्रकार सत्य वचन बोलता है और असत्य का त्याग करता है वह किसी दिन पूर्ण सत्य को भी प्राप्त कर सकता है। जैसे रेखा गणित में मध्य रेखा की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार हमारे लिए पूर्ण सत्य तो कल्पना के समान प्रतीत होता है किन्तु जैसे रेखागणित में मध्यरेखा की लम्बाई-चौड़ाई न होने पर भी मानी जाती है—माननी पड़ती है, इसी प्रकार सत्य में भी पूर्ण सत्य का आदर्श मानना आवश्यक है। कहने का आशय यह है कि असत्य का पाप भी विषयलालसा से ही उत्पन्न होता है।

तीसरा पाप चोरी का है। चोरी का पाप भी विषयलोलुप मनुष्य ही करता है। जिसने विषयवासना पर विजय प्राप्त करली है वह चोरी नहीं करेगा। अर्थात् विषय-विजय पुरुष चोरी का पाप नहीं करता। चोरी में केवल दूसरों की चीजों को बिना अधिकार लेने का ही समावेश नहीं होता परन्तु अपना या दूसरों का विकास रोकना भी चोरी ही है। तुम श्रावक हो—गृहस्थ हो, अतएव तुम पूरी तरह चोरी से निवृत्त नहीं हो सकते अतएव तुम्हें स्थूल चोरी से निवृत्त होने के लिए कहा गया है। अर्थात् तुम्हारे लिए ऐसी चोरी करने की मनाई की गई है जिससे र

समाज के नियमों का उल्लंघन होता हो अथवा जिसे ज्य या समाज चोरी मानता हो। पूर्ण चोरी में तो रास्ते पड़े हुए एक छोटे-से तिनके को भी बिना पूछे लेने का मावेश हो जाता है। पर तुम ने अगर रास्ते में पड़ी हुई नका जैसी मामूली वस्तु ले ली हो तुम्हें तो राज्य या माज द्वारा दण्ड नहीं दिया जाता। ऐसा करना चोरी में । नहीं गिना जाता। अतएव शास्त्रकारों ने भी ऐसे कृत्य । स्थूल चोरी में नहीं गिना है, अलबत्ता सूक्ष्म चोरी में सकी गणना की गई है। तुम्हें ऐसी सूक्ष्म चोरी का त्याग रने के लिए कहा गया है। परन्तु राजा ने पत्थरों की ान से पत्थर लेने की मनाई कर दी हो और तुम राजा ो आज्ञा लिए बिना पत्थर ले आओ तो वह स्थूल चोरी । इस प्रकार जिसे चोरी से राजाज्ञा या समाजाज्ञा का ंग नहीं होता वह स्थूल चोरी नहीं है और तुम्हें स्थूल ोरी त्यागने के लिए ही कहा गया है। हां, यह बात दूसरी ़ कि राजा के बनाए हुए कानून योग्य हैं या नहीं, और सका पालन करना उचित है या नहीं, परन्तु राजा के किसी अयोग्य कानून का भी अगर तुम छिपकर भी भंग करते हो तो तुम्हारा यह कार्य स्थूल चोरी में गिना जा सकता है। तुम्हें कोई कानून खराब और हानिकारक प्रतीत होता हो तो तुम उसे खराब कहकर सविनय कानूनभंग की भांति उल्लंघन कर सकते हो। अगर कानून बुरा न हो और छिपकर उसे भंग करो तो यह कार्य स्थूल चोरी में गिना जा सकता है।

कदाचित् तुम कहोगे कि शास्त्र में राजा के विरुद्ध कार्य करना निषिद्ध है, तो फिर राजा का कानून किस

प्रकार भंग किया जा सकता है ? इस का उत्तर यह है कि शास्त्र में जो 'विरुद्धरज्जाइकम्मे' कहा गया है, उसका अर्थ राजा के विरुद्ध काम न करना नहीं वरन् राज्य विरुद्ध कार्य न करना है। राज्य का अर्थ सुव्यवस्था है। सुव्यवस्था का भंग करने की मनाई की गई है। परन्तु राजा के सत्ताद कायदे का भंग करने की मनाई नहीं की गई। मानलो कि किसी राजा ने अपना भण्डार भरने के लिए यह कानून बनाया कि प्रत्येक प्रजाजन को प्रतिदिन एक-एक प्याला शराब पीनी चाहिए जिससे राज्य की आय में वृद्धि हो। तो क्या राजा के इस आदेश का पालन किया जायेगा ? ऐसे आदेश का विरोध करना धर्म हो जाता है परन्तु छिपकर किसी कानून का भंग करना चोरी है। अगर कोई कानून वास्तव में बुरा है तो प्रकट रूप से उसे भंग करना चाहिए, छिप कर नहीं। 'विरुद्धरज्जाइकम्मे' का अर्थ है सुव्यवस्था के विरुद्ध कोई काम न करना। इस शास्त्रकथन का यह अर्थ नहीं की दुर्व्यवस्था के विरुद्ध भी कोई कार्य न किया जाये। जहां दुर्व्यवस्था है वहां राज्य नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। राजा अगर न्यायपूर्वक राज्य का संचालन करता हो तो उसके न्याय को शिरोधार्य करना ही चाहिए अगर राजा अन्याय करता हो तो उस अन्याय को दूर करने के लिए नैतिक बल से उस का विरोध करना ही कर्त्तव्य है।

आज लोगों में नैतिक बल की कमी है और जिनमें नैतिक बल की कमी होती है, उनसे भलीभांति धर्म का पालन नहीं हो सकता। नैतिक बल होने पर ही धर्म का पालन हो सकता है। यह बात स्पष्ट करने के लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण दिया जाता है।

जिस समय की वात कह रहा हूं, उस समय भारत में अंगरेजी राज्य फैल गया था। उस समय रामचन्द्र नामक एक सिख गुरु सत्य का उपदेश देकर धर्म प्रचार कर रहा था। सत्य का पालन करो, वस यही उसके उपदेश का मूल मंत्र था। अपने मन को न ठगना ही सत्य है ऐसा वह अपने उपदेश में कहता था। रामचन्द्र गुरु के इस उपदेश की जन समाज पर अच्छी छाप पड़ी और वहुत-से लोगों ने सत्य का पालन करने की प्रतिज्ञा ली। सत्यपालन की प्रतिज्ञा लेने वालों में कूका नामक एक जाट भी था। वह जाट भी रामचन्द्र का शिष्य बन गया और सत्य बोलने का अभ्यास करने लगा।

उन दिनों अम्वाला में हिन्दुओं को सताने के लिए मुसलमानों ने गायों का कत्ल करना आरम्भ किया। मुसलमानों ने विचार किया–इस समय अंगरेजों का राज्य है, इस कारण कोई किसी के धर्म में विक्षेप नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य अपना अपना धर्म पालने में स्वतन्त्र है। इस प्रकार विचार कर उन मुसलमानों ने गायों का एक जुलूस निकाला और उन्हें कत्ल करने के लिए नियत स्थान पर ले गए। हिन्दुओं ने ऐसा दुष्कृत्य न करने के लिए उन्हें बहुत समझाया पर उन्होंने एक न सुनी। तब कुछ हिन्दुओं ने विचार किया कि समझाने–बुझाने पर भी गायों को कत्ल करने वाले यह मुसलमान अपनी करतूत से वाज नहीं आते ऐसी हालत में रात्रि के समय इन्हें मार डालना चाहिए। कूका जाट ने और दूसरे हिन्दुओं ने रात के समय उन पर हमला कर दिया और निद्रावस्था में ही उन्हें मार डाला। यह समाचार जब रामचन्द्र गुरु के पास पहुंचा तो

वास्तव में यही बात है और तुमने सत्य की प्रतिज्ञा ली है तो तुम सरकार के पास जाकर अपना अपराध स्वीकार कर दो निरपराध लोगों के प्राण बचाओ ।

रामचन्द्र गुरु का कथन सुनकर कूकाने कहा—मैं अपना अपराध तो स्वीकार कर लूंगा मगर अपने साथियों के नाम नहीं बताऊंगा क्योंकि मैंने उन्हें वचन दिया है कि अगर मैं पकड़ा गया तो भी उनका नाम नहीं बताऊंगा । रामचन्द्र गुरु बोले 'तुम सरकार को यही उत्तर देना कि मैंने और मेरे साथियों ने यह दुष्कृत्य किया है, मगर मैं अपने साथियों के नाम बताने की स्थिति में नहीं हूं । हां, इतना अवश्य कह सकता हूं कि इस समय जिन लोगों को अपराधी समझकर मौत की सजा बोली गई है, वे लोग निर्दोष हैं ।'

कूका ने गुरु से पूछा—तो क्या मैं स्वयं ही सरकार के पास चला जाऊं ? गुरु ने कहा—अगर तुममें सत्य बात को स्वीकार करने का साहस है तो फिर सरकार के सामने अपना अपराध स्वीकार करने में क्या बाधा है ?

कूका पुलिस-प्रधान के पास जा पहुंचा । उसने अपना अपराध स्वीकार किया । पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया । पुलिस के अनेक प्रलोभन देने पर भी उसने अपने साथियों के नाम प्रकट नहीं किये । पुलिस ने यहां तक कहा कि अगर तू अपने साथियों के नाम प्रकट करदे तो तू फांसी की सजा से बच जाएगा । मगर कूका अपने निश्चय से विचलित नहीं हुआ । उसने कहा—आप मुझे फांसी पर चढ़ा सकते हैं, मगर मैं अपने साथियों के नाम जाहिर नहीं

# तैंतीसवां बोल

## संभोगप्रत्याख्यान



विषयसुख से पराङ्मुख होना भी परमात्मा के प्रति कनिष्ठा प्रीति का एक उपाय है। जो लोग विषयसुख से राङ्मुख हो जाते हैं, उनके भाव उच्च बनते हैं, उनकी रमात्मप्रीति दृढ़ होती है और वे संभोग का त्याग करके ावलम्बी बनते हैं। अतएव गौतम स्वामी अब यह प्रश्न छते हैं कि संभोग का त्याग करने से जीव को क्या लाभ ता है ?

### मूलपाठ

प्रश्न—संभोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ, निरालंणस्स व आयट्ठिया जोगा भवंति, सएणं लाभेणं संतुस्सइ, रस्स लाभं नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, ो अभिलसइ, परस्स लाभं अणासाएमाणे अतक्केमाणे अपी, माणे अपत्थेमाणं अणाभिलसेमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसपज्जित्ता णं विहरइ ॥३३॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! संभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव ो क्या लाभ होता है ?

उत्तर—हे गौतम ! संभोग का प्रत्याख्यान करने से ीव परावलम्बन का क्षय करता है और उस स्वावलम्बी

जीवात्मा के योग उत्तम अर्थ वाले हो जाते हैं। वह आत्म-लाभ से ही संतुष्ट रहता है, पर के लाभ की आशा ही करता एवं कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना, अथवा अभिलाषा भी नहीं करता। इस प्रकार जीवात्मा अस्पृहि–अनअभिलाषी बन-कर उत्तम प्रकार की दूसरी सुखशय्या पाकर विचरता है।

## व्याख्यान

संभोग का प्रत्याख्यान करने से जीवों को होने वाले लाभ का विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आव-श्यक है कि संभोग का अर्थ क्या है?

जिस समान मिलन से अपना और दूसरों का कल्याण होता हो, उस समान मिलन को संभोग कहते हैं इसके विपरीत जिस मिलन से स्व–पर का कल्याण होता हो वह विसंभोग कहलाता है। मिलन चार प्रकार का है। श्रीस्था-नांगसूत्र में मिलन को चौभंगी बना कर कहा गया है–

(१) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए लाभकारक होता किन्तु लम्बे समय के लिए हानिकारक होता है।

(२) किसी पुरुष का मिलना लम्बे समय के लिए लाभप्रद होता है और थोड़े समय के लिए हानिकारक होता है।

(३) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए भी लाभकारक होता है और थोड़े समय के लिए भी लाभकारक होता है।

(४) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए

निकर होता है और थोड़े समय के लिए भी हानिकर ता है।

यहां जो बात कही गई है, वह साधुओं से सम्बन्ध खती है। साधुओं में कोई संभोगी और कोई विसंभोगी ाता है। शास्त्र में संभोगी और विषमभोगी दोनों प्रकार के ाधु कहे गये हैं। कुछ लोगों का कहना है कि साधु होने ; बाद साधुओं में आपस में भेद क्यों रखा जाता है ? ाधुओं को तो एक-रूप हो जाना चाहिए। उन्हें एक साथ हरना और एक साथ आहार करना चाहिए। ऐसे लोगों ो समझना चाहिए कि कथन एकान्ततः ठीक होता तो ास्त्र में साधुओं के संभोगी और विसंभोगी भेद न किये ाये होते। शास्त्र में कहा है कि किसी के साथ संभोग करने े गुण की वृद्धि होती हो तो वह संभोग रखना चाहिए, अन्यथा विसंभोगी होकर रहना ही अच्छा है। अगर किसी के संभोग से अपने गुणों की हानि होती हो तो उस संभोगी को भी विसंभोगी बना लेना चाहिए। साधुओं में से कोई साधु अगर साधुता के मार्ग से हट गया हो तो उसे यही कहा जा सकता है कि तुम साधुता का मार्ग अंगीकार करो अन्यथा हम तुमसे विसंभोगी बन जाएंगे ! अब शास्त्र में इस प्रकार कहा गया है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सब साधुओं को एक-रूप होकर ही रहना चाहिए !

मान लीजिए, कोई आदमी अपनी थाली में कन्दमूल लेकर भोजन करने बैठा है और तुम कन्दमूल के त्यागी होने के कारण अलग थाली में भोजन करने बैठे हो। अब वह आदमी तुम से कहता है 'मेरे साथ ही भोजन करने बैठो'

तुमने उत्तर दिया—'मैं कन्दमूल का त्यागी हूं अतएव तुम्हारे साथ एक ही थाली में भोजन करने कैसे बैठ सकता हूं ? अगर तुम अपनी थाली में से कन्दमूल हटा दो तो मैं तुम्हारे साथ जीमने बैठ सकता हूं ।' तब वह आदमी कहता है - 'मैं अपनी थाली में से कन्दमूल नहीं हटा सकता ?' ऐसी स्थिति में तुम उसे क्या उत्तर दोगे ? तुम यही कहोगे कि अगर तुम्हें ऐसा ही करना है तो हम लोग अलग-अलग ही जीमने बैठे यही ठीक है । इस प्रकार जब तुम अलग जीमने बैठे तो वह कहता है—'तुम अलग बैठकर आपस में फूट फैलाते हो !' इस कथन का उत्तर यही दिया जा सकता है कि कुछ भी हो, केवल तुम्हें मनाने के लिए मैं अपने नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता ।

इस प्रकार यदि तुम भी अपने नियम का पालन करने के लिए असमान आहार-विहार करने वाले के साथ भोजन करने नहीं बैठ सकते, तो फिर साधुता के नियमों का ठीक तरह पालन न करने वाले साधुओं के साथ हम संभोग कैसे चालू रख सकते है ? कोई मोती असली और कोई नकली होता है । तो क्या असली और नकली मोती को एक समान माना जा सकता है ? क्या असली और नकली मोती एक ही हार में पिरोया जाना उचित है ? अगर नहीं, तो फिर साधुओ के विषय में भी यही समझ लेना चाहिए। निश्चय में तो कौन मोक्ष प्राप्त करेगा, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु व्यवहार में तो देखना ही पड़ता है कि अमुक साधु में साधुता का गुण है या नहीं ? जो साधु समान रूप से साधुता के नियमों का पालन करते हैं, उनके साथ संभोग व्यवहार चालू रह सकता है, परन्तु जो साधु सा

के नियमों की अवहेलना करते हैं, उनके साथ संभोगव्यवहार किस प्रकार चालू रह सकता है ?

संभोग किसे कहना चाहिए, इस विषय में टीकाकार कहते हैं कि एक मण्डल में बैठकर साथ-साथ आहार करना संभोग कहलाता है। ऐसा करने से अपने गुणों का लाभ होता हो तो संभोग चालू रखना उचित है। अगर गुणों की हानि होती हो तो विसंभोगी बनकर रहना ही अच्छा है। विसंभोग का तो त्याग नहीं होता, परन्तु संभोग का ही त्याग होता है। अतएव यहां संभोग के त्याग करने का ही फल पूछा गया है। परन्तु यहां विशेष रूप से देखना यह है कि किस दशा में संभोग का त्याग किया जा सकता है ? इस विषय में शास्त्र में कहा गया है कि साधु जब भली-भांति पढ-लिखकर गीतार्थ हो गया हो, तब वह जिनकल्पी, प्रतिमाधारी या किसी अन्य उच्च वृत्ति का धारक बन कर संभोग का त्याग कर सकता है, अन्यथा नहीं।

कतिपय एकलविहारी साधु शास्त्र में वर्णित संभोग त्याग का उल्लेख करके कहते हैं कि हमने भी शास्त्र के कथनानुसार संभोग का त्याग किया है और हम अकेले रहते हैं! परन्तु ऐसा कहने वाले एकलविहारी साधु शास्त्र के नाम पर धोखा देते हैं और अपना बचाव करते हैं। श्री स्थानांगसूत्र में स्पष्ट कहा है—

**अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरही पडिमं उवसंपज्जिता णं विहरित्तए।**

अर्थात् जिस साधु में आठ गुण हो,

धारण करके अकेला रह सकता है। परन्तु जिसमें यह आठ गुण न हों वह अकेला नहीं रह सकता। इस पर से यह बात समझने योग्य है कि साधु कब और कैसी अवस्था में अकेला रह सकता है? जिन गुणों की विद्यमानता में संभोग का त्याग करना बतलाया गया है, वह गुण अपने में न होने पर भी संभोग का त्याग करके अकेला रहना और फिर शास्त्र की आड़ में अपना झूठा बचाव करना सर्वथा अनुचित है। एकलविहारी साधु शास्त्र का प्रमाण पेश करते हैं और शास्त्र का प्रमाण तुम्हें भी मान्य होना चाहिए। तुम भी श्रावक हो। शास्त्र में कहा है—

**निग्गंथे पावयणे पुरओ काउं विहरंति।**

अर्थात्—साधु और श्रावक निर्ग्रंथ प्रवचन को समक्ष रखकर विचरते हैं। अतएव तुम भी शास्त्र का अध्ययन करो और देखो कि किस अवस्था में साधु अकेला रह सकता है। अगर तुम शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करोगे तो कोई एकल-विहारी साधु शास्त्र का नाम लेकर तुम्हें ठग नहीं सकता।

तात्पर्य यह है कि जो साधु गीतार्थ हो चुके हों, वही जिनकल्पी, प्रतिमाधारी या किसी उच्च वृत्ति का धारक बनने के लिए संभोग का त्याग कर सकता है और उग्र विहार कर सकता है। साधु जिनकल्पी हो प्रतिमाधारी हो या किसी उच्च वृति को धारण की इच्छा वाला हो तो ही वह संभोग का त्याग कर सकता है। ऐसे उच्च साधु को ऐसे अवसर पर संभोग का त्याग क्यों करना पड़ता है, यह बात उदाहरण द्वारा समझाता हूं—

कल्पना करो, एक मनुष्य व्याज-वट्टे का धंधा करता

है। उसने अधिक लाभ की इच्छा से अपना धन्धा वन्द करके जवाहरात का व्यापार करने का विचार किया। व्याज-वट्टे के धन्धे में उसे लाभ तो होता था, परन्तु उत्कृष्ट लाभ प्राप्त करने के लिए उसे व्याज का धन्धा वन्द करना आवश्यक हो गया। इसी प्रकार जब कोई उच्चश्रेणी का लाभ होता हो तभी संभोग का त्याग किया जाता है। संभोग का त्याग करने का अर्थ यह नहीं है कि संभोग में ही रहना बुरा है। साधारण रूप से तो साधु को संभोग में ही रहना चाहिए, परन्तु अगर अपने में विशिष्ट शक्ति हो और उत्कृष्ट लाभ पाना हो हो संभोग का त्याग करना लाभप्रद है।

संभोग का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है, प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—संभोग का त्याग करने से जीव आलम्वन रहित वनता है। साधु जब संभोग में रहता है तो अन्य साधुओं का सहारा रहता है। वह सोचता है—'मैं बीमार हो जाऊंगा तो जिन साधुओं के साथ मैं संभोग करता हूं, वे साधु मेरी सेवा करेंगे।' संभोग का त्याग कर देने से उसे इस प्रकार का आलम्वन नहीं रह जाता।

मृगापुत्र की माता ने मृगापुत्र से कहा था—हे पुत्र! तू दीक्षा तो लेता है, मगर दीक्षा के वाद 'दुक्खं निपडिकम्मया' अर्थात् जिनकल्पी आदि दशा प्राप्त होने के पश्चात् जव वीमारी उत्पन्न होती है तो बड़ी ही कठिनाई उपस्थित होती है। क्योंकि जिनकल्पी होने के वाद बीमारी मिटाने के लिए दवा भी नहीं ली जा सकती।

माता के इस कथन के उत्तर में मृगापुत्र ने कहा— हे माता ! ऐसा दुख आलम्न लेने वाले को ही होता है। जो आलम्बन का त्याग कर चुकता है उसे दुःख का अनुभव नहीं होता । मैं राजपुत्र हूं, इस कारण मेरी चिकित्सा हो सकती है, परन्तु संसार में ऐसे अनेक प्राणी हैं जिनकी बीमारी दूर करने के लिए दवा ही नहीं की जाती। वन में रहने वाले मृगों को जब बीमारी होती है तो वे वन में क्या करते हैं ? वे मृग एकान्त में किसी वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं और जब तक रोग शांत नहीं हो जाता तब तक वहीं बैठे रहते हैं। रोग शांत हो जाने पर वे स्वयं उठकर चरने चले जाते हैं । उन मृगों को वह आशा ही नहीं होती कि कोई आकर हमारी सेवा करेगा और यह आशा न रखने के कारण उन्हें किसी प्रकार का दुःख नहीं होता। मैं भी उन मृगों के समान निरालम्बी रहूंगा और निरालम्बी रहने के कारण व्याधि उत्पन्न होने पर भी मुझे भी दुःख नहीं होगा।

इस प्रकार संभोग का त्याग करने से साधु निरालम्ब बनता है । निरालम्ब बनने का अर्थ ही संभोग का त्याग करना है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि संभोग का त्याग करने वाला साधुओं का आलम्बन तो न लेवे और उसके बदले गृहस्थों का आलम्बन ले और उनसे अपनी सेवा करावे। कहा जा सकता है कि गृहस्थों का आलम्बन लिए बिना हमारा काम नहीं चल सकता, क्योंकि हममें ऐसी शक्ति ही नहीं है कि दूसरे के आलम्बन के बिना ही हम अपना काम चला सकें। ऐसा कहने वाले को यही उत्तर देना चाहिए कि अगर तुममें आलम्बन लिये बिना काम चलाने की शक्ति

ही नहीं हैं तो तुमने संभोग का त्याग ही क्यों किया ? और जब तुमने संभोग का त्याग कर दिया है तो संभोगत्याग का उद्देश्य ही निरालम्बी बनाना है। अब किसी का आलम्बन लेने की क्यों आवश्यकता होनी चाहिए ?

भगवान् कहते हैं—संभोग का त्याग करने से निरालम्बी बन सकते हैं। आलम्बन लेने से तिरस्कारवृत्ति उत्पन्न होती है। अतएव संभोग का त्याग करने वाला स्वावलम्बी बनता है अर्थात् किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। कवि कालीदास ने रघुवंशी राजा का वर्णन करते हुए कहा है—

**स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः**

अर्थात्—अपनी रक्षा करने में आप समर्थ होने के कारण रघुवंशी राजा अकेला वन में गया।

यद्यपि राजा व्यवहारिक दृष्टि से अपने साथ रक्षक रखता था परन्तु उसे अपने ऊपर ऐसा विश्वास था कि रक्षक मेरी रक्षा नहीं कर रहे हैं, वरन् मैं स्वयं इतना समर्थ हूं कि रक्षकों की भी रक्षा कर सकता हूं। इस प्रकार वह रघुवंशी राजा अपनी और दूसरों की रक्षा करने में समर्थ था और इसी कारण वह अकेला वन में गया था।

इस प्रकार जिस में आलम्बनरहित रहने की क्षमता होती है और जो किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, वही संभोग का त्याग कर सकता है। अतः आलम्बन का त्यागी ही संभोग का त्यागी कहलाता है।

प्रजा उसी राजा का सम्मान करती है जो राजा

अपनी और प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होता है। जो राजा स्वयं अपनी सेवा दूसरों से कराता हो उसे प्रजा कायर कहेगी और उसका प्रजा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार स्वावलम्बी होने से और अपनी रक्षा में स्वयं-मेव समर्थ होने से और दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने से ही साधु संभोग का त्यागी कहलाता है।

जो व्यक्ति अपना काम आप करके दूसरों का काम करने में समर्थ होता है, वह व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और दूसरों पर अपना प्रभाव भी डाल सकता है। यह बात एक प्राचीन उदाहरण द्वारा समझो।

विराट-नगरी में अज्ञातवास समाप्त करके पाण्डव अभी प्रकट हुए थे। वे अपनी प्रसिद्धि करने के लिए अभिमन्यु का विवाह उत्तरा के साथ धूमधाम के साथ कर रहे थे। इस विवाहोत्सव में भाग लेने के लिए श्रीकृष्ण की कई रानियां भी विराट-नगरी में आई हुई थीं। विवाहोत्सव सानन्द सम्पन्न हो जाने के बाद जब श्रीकृष्ण की रानियां वापिस द्वारिका लौटने लगीं तो द्रौपदी उन्हें विदा करने गई। श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा बहुत भोली थी। इसीलिए 'भोली भामा' की कहावत प्रसिद्ध हो गई है। भोली सत्यभामा ने रास्ते में दौपदी से कहा—मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूं। द्रौपदी ने उत्तर में कहा—तुम मुझ से बड़ी हो और तुम्हें मुझसे प्रत्येक बात पूछने का अधिकार है। तब सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा—'मेरे एक ही पति है फिर भी वह मेरे वश में नहीं रहते, और तुम्हारे पांच पति हैं फिर भी वे पांचों तुम्हारे वश में रहते हैं। अतएव

मैं पूछना चाहती हूं कि क्या तुम्हारे पास कोई ऐसा वशीकरण मन्त्र है, जिसके प्रभाव से तुम पांचों पतियों को अपने वश में रख सकती हो ? अगर ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती होओ तो मुझे भी वह मन्त्र सिखा दो न ?'

द्रौपदी ने उत्तर दिया—मैं ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती हूं, परन्तु जान पड़ता है, कोमलांगी होने के कारण तुम वह मन्त्र साध नहीं सकोगी ।

सत्यभामा कहने लगी—मैं उस मन्त्र को अवश्य साध सकूंगी । मुझे वह मन्त्र अवश्य बतादो । मुझे उसकी बड़ी आवश्यकता है ।

ऐसे वशीकरण मन्त्र की आवश्यकता किसे नहीं होती ? उसे तोसभी चाहते हैं । पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, पति पत्नी को, पत्नी पति को और इस प्रकार सभी एक दूसरे को अपने वश में करना चाहते हैं । मगर यह मन्त्र जब साध लिया जाये तभी सब को वश में किया जा सकता है ।

द्रौपदी ने सत्यभामा से कहा—मैं वशीकरण मंत्र द्वारा सब को अपने वश में रखती हूं । वह मन्त्र यह है कि स्वयं दूसरों के वश में रहना । इस मन्त्र से जिसे चाहो उसे वश में कर सकती हो । इस मन्त्र को साधने का उपाय मेरी माता ने मुझे सिखाया है । मन्त्र साधने की विधि बतलाते हुए मेरी माता ने कहा था—'पति के उठने से पहले उठ जाना ।' फिर पति की आवश्यकताएं अपने हाथ से पूरी करना । दास दासियों के भरोसे न बैठी रहकर सब काम अपने हाथ से करना और दास-दासी की अपेक्षा अपने आपको

बड़ी दासी समझना। इस प्रकार अपने को नम्र बनाकर सब काम करना। बड़े-बूढ़ों की मर्यादा रखना। सब की सेवा-शुश्रूषा करना और सब को भोजन कराने के बाद आप भोजन करना। इसी प्रकार सब के सो जाने पर सोना। काम करते करते फुरसत मिल जाये तो सब को कर्त्तव्य और धर्म का भान कराना। इस प्रकार कर्त्तव्यपरायणता का परिचय देकर अपनी चारित्रशीलता का प्रभाव डालना। यही वशीकरण मन्त्र को साधने के उपाय हैं। इस उपाय से मन्त्र की अच्छी तरह साधना की जाये तो अपने पति को तथा अन्य कुटुम्बी जनों को अपने अधीन किया जा सकता है। अगर तुम इस विधि से मन्त्र की साधना करोगी तो श्रीकृष्ण अवश्य तुम्हारे वश में हो जाएंगे।

तुम लोग भी इस वशीकरण मन्त्र को साधने का प्रयत्न करो। साहस और शक्ति के साथ मन्त्र को साधने का प्रयत्न करोगे तो अवश्य उसे साध सकोगे। अगर तुमने मन्त्र-साधना का साहस ही न किया और दूसरे के भरोसे बैठे रहे तो यह तुम्हारी पराधीनता कहलाएगी। शास्त्र तुम्हें जो उपदेश देता है सो तुम्हारी परतन्त्रता दूर करने के लिए ही है। शास्त्र तो तुम्हें आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से स्वतन्त्र करना चाहता है। इसी कारण शास्त्र आध्यात्मिक उपदेश के साथ ७२ कलाओं का शिक्षण सम्पादन करने का भी उपदेश देता है। मगर तुम तो परतन्त्रता में और दूसरों के हाथों काम कराने में ही सुख मान बैठे हो। परतन्त्र रहने में और दूसरों के हाथों से काम कराने में कम पाप होता है और सुख मिलता है, यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। अपने हाथ से काम करने में कम पाप

लगता है या दूसरे से कराने में, इस बात का अगर बुद्धि-पूर्वक विचार करोगे तो तुम्हें विश्वास हो जायेगा कि स्वतन्त्रता में सुख है और परतन्त्रता में दुःख है। पाप परतन्त्र दशा में अधिक होता है और स्वतन्त्रदशा में कम होता है।

द्रौपदी ने सत्यभामा को वशीकरण मन्त्र और उस मन्त्र को साधने के उपाय बतलाते हुए कहा-दूसरों के वश में रहना सच्चा वशीकरण है और पति-सेवा में सुख मानना, पति की आज्ञा मानना तथा कर्त्तव्यशील और धर्मपरायण होकर रहना मन्त्र साधने के उपाय हैं। अगर तुम इस मन्त्र की साधना करोगे तो तुम भी सब को अपने वश में कर सकोगे। यह मन्त्र तो विश्व को वश में करने वाला वशीकरण मन्त्र हैं।

कहने का आशय यह है कि जो पुरुष स्वावलम्बी बनता है और अपना काम आप करके दूसरों का भी काम कर लेता है, वही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। दूसरों को गुलाम रखने वाला स्वयं गुलाम बनता है।

कहते हैं, भारत का पहला लॉर्ड क्लाइव जब ढाका के नवाब से मिलने गया तो नवाब ने अपने गुलामों को सुन्दर वस्त्र पहना कर एक कतार में खड़ा किया था और गुलामों को नीचे झुकाकर सलामी दी थी। नवाब जब लॉर्ड क्लाइव से मिला तो उसने क्लाइव—से पूछा—तुम अपने बादशाह को बहुत बड़ा कहते हो तो उसके पास कितने गुलाम हैं? लॉर्ड ने उत्तर दिया—'हमारे बादशाह के पास एक भी गुलाम नहीं है।' नवाब ने कहा—'तो फिर बादशाह बड़े क्यों कहलाते हैं?' लॉर्ड ने कहा—हमारे बादशाह के पास

यों तो गुलाम बहुत हैं, पर वे शरीर से नहीं मन से हैं। जो शरीर से ही गुलाम होता है और मन से गुलाम नहीं होता अर्थात् जो मन से स्वतन्त्र है वह गुलाम नहीं है। वास्तव में गुलाम वही है जो मन से गुलाम है।

आशय यह कि द्रौपदी के कथनानुसार जो स्वावलम्बी बनता है वही संभोग का त्याग कर सकता है। संभोग का त्याग करने के लिए अपने बल-अबल का विचार पहले करना आवश्यक है। शास्त्र कहता है कि अगर आज तुममें संभोग का त्याग करने की शक्ति नहीं है तो संभोग का त्याग करने वाले जिनकल्पी महात्माओं का आदर्श दृष्टि के सामने रखो और उनके समान बनने का प्रयत्न करो। इसी में कल्याण है।

यह तो बतलाया जा चुका है कि संभोग का त्याग करने से निरवलम्ब अवस्था प्राप्त होती है। संभोग पारस्परिक लाभ के लिए किया जाता है फिर भी उसमें परतन्त्रता तो है ही। अतएव साहस और शक्ति हो तो इस परतन्त्रता को दूर करने के लिए संभोग का त्याग करना आवश्यक है। जहां लाभ होता है वहां परतन्त्रता भी होती है। अतः स्वाधीन बनने के लिएउस लाभ से वंचित रहना और संभोग का भी त्याग करना आवश्यक है।

संभोग में रहने से दूसरों का आलम्बन लेना पड़ता है। अगर संभोग का त्याग कर दिया जाये तो निरालम्ब बन सकते हैं। संभोग का त्याग करना शक्ति और साहस पर निर्भर करता है। शक्ति और साहस न हो तो संभोग का त्याग करना अनिवार्य नहीं हैं। आज आपसे रेल में बैठने

का त्याग करने के लिए कहा जाए तो क्या आप त्याग कर सकेंगे ? आप यही कहेंगे कि रेल में बैठने का त्याग करने से हमारा काम नहीं चल सकता। मगर तुम्हारे पूर्वजों का काम रेल के विना चल सकता था या नहीं ? अगर उनका काम चल सकता था तो तुम्हारा काम क्यों नहीं चल सकता ? इससे यही मालूम होता है कि साधनों की अधिकता से शक्ति का नाश होता है। अतएव साधनों का यथाशक्ति त्याग करना चाहिए।

संभोग के त्याग से आलम्वन का त्याग होता है। आलम्वन के त्याग से आयत अर्थ की सिद्धि होती है अर्थात् संभोग और आलम्वन का त्याग करने से संयम और मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा कोई आधार नहीं रहता। संभोग के त्याग से प्रत्यक्ष लाभ यह होता कि अपने ही लाभ से संतुष्टि होती है और दूसरे के लाभ की आशा नहीं रहती। फलस्वरूप हृदय में ऐसा संकल्प-विकल्प पैदा नहीं होता कि कोई मुझे अमुक वस्तु दे, अमुक ने अमुक वस्तु क्यों न दी अथवा मुझे दूसरे से अमुक वस्तु मिल जाये ! इस दशा में 'हमारा अमुक काम कर दो, इस प्रकार की प्रार्थना भी नहीं करनी पड़ती। जिसे किसी प्रकार की अभिलाषा होती है उसी को दूसरे से प्रार्थना करनी पड़ती है। जिसे दूसरे से सहायता लेने की इच्छा ही नहीं है और जो दूसरे के लाभ की आशा ही नहीं रखता वह दूसरे के सामने प्रार्थी क्यों वनने लगा ? इसी प्रकार जो साधु संभोग का त्याग करके निरवलम्व, निर्विकल्पी, अप्रार्थी, अस्पृही और अनभिलापी वनता है, वह साधु श्रीस्थानांगसूत्र में कही हुई उत्तम

प्रकार की दूसरी सुखशय्या पा कर विचारता है।

जिस पर शयन किया जाता है उसे शय्या कहते हैं। शय्या दो प्रकार की है—सुखशय्या और दुःखशय्या। दूसरे के आधार पर रहने वाला दुःखशय्या पर सोने वाला है और जो अपने ही आधार पर सोने वाल है, दूसरों का आधार नहीं लेता, वह सुखशय्या पर सोने वाला है। दूसरों के आधार पर रहना पराधीनता है और अपने आधार पर रहना स्वाधीनता है। पराधीनता के समान और कोई दुःख नहीं तथा स्वाधीनता के समान दूसरा सुख नहीं। पराधीनता के साथ खाने को मिष्टान्न मिलना भी अच्छा नहीं। उसकी अपेक्षा स्वतन्त्रतापूर्वक मिला हुआ रूखा, सूखा रोट ही अच्छा है। स्वतन्त्रता में जो आनन्द है वह परतन्त्रता में स्वप्न में भी संभव नहीं।

आज लोग स्वतन्त्रता को भूल गये हैं और लकीर के फकीर की भांति बहुत से लोग जो कार्य करते हैं, उसी को करने बैठ जाते हैं। परन्तु यह उनकी भूल है। अधिक लोग जो काम करते हैं वह करना ही चाहिए, यह ठीक कैसे कहा जा सकता है? क्या अधिक संख्या में लोग अप्रामाणिक और विश्वासघाती नहीं हैं? क्या उनका अनुकरण करना उचित कहा जा सकता हैं? अतएव इस धारणा को त्याग कर दो कि बहुजन समाज जो कार्य करता है वह कर्त्तव्य है। बहुजनसमाज के कार्यों की नकल न करके जिस आत्मा का कल्याण हो, वही करना चाहिए।

शास्त्रानुसार स्वाधीनता में ही सुख है। यह बात दूसरी है कि आज लोग परवश हो जाने के कारण तत्का

पराधीनता का त्याग नहीं कर सकते, फिर भी स्वतन्त्रता को भूल तो नहीं जाना चाहिए। स्वाधीनता का आदर्श तो अपनी नजर के आगे रखना ही चाहिए। जो लोग पराधीनता को ही सर्वस्व मान बैठते हैं और स्वाधीनता को सर्वथा भूल जाते हैं, उनका परतन्त्रता के दुःख से मुक्त होना कठिन है। अगर स्वाधीनता का आदर्श दृष्टि के समक्ष रखा जाये और आदर्श पर पहुंचने का यथाशक्य प्रयत्न किया जाये तो एक दिन अवश्य ऐसा आएगा कि पराधीनता के दुःख का अन्त हो जायेगा। स्वाधीनता के सिद्धान्त को सर्वथा भुला देने से पराधीनता के दुःख से छुटकारा मिलना कठिन है।

कल्पना करो, एक कैदी को कैदखाने में बन्द कर दिया गया है और एक पागल को पागलखाने में डाल दिया है। अब यह दोनों अपने बन्धन से कब छूट सकते हैं? कैदी को तो कैदखाने से छूटने की अवधि निश्चित है किन्तु पागल का दिमाग जब शांत और स्थिर होगा तभी वह पागलखाने से छूट सकेगा। दिमाग शांत और स्थिर हुए बिना वह पागलखाने से छुठकारा नहीं पा सकता। ज्ञानी और अज्ञानी में भी इसी प्रकार का अन्तर है। अपराध तो ज्ञानी से भी हो जाता है परन्तु ज्ञानी के अपराध के दण्ड की अवधि होती है और अज्ञानी के दण्ड की अवधि नहीं होती। अतएव जब अज्ञानी का अज्ञान मिटता है तभी वह दुःख से छूटता है। इस प्रकार अज्ञानता एक प्रकार का पागलपन है। अतएव स्वतन्त्रता क्या है, इसका ज्ञान प्राप्त करो।

एक लेख में मैंने देखा था—किसी जगह पागलखाने में आग लग गई। कुछ दयालु लोग पागलों को बाहर

निकालने के लिए दौड़े आये। मगर पागल तो आग को देखकर उलटे आनन्द मनाने लगे। कहने लगे–यहां और दिन तो एक-दा ही दीपक जलाये जाते थे पर पर आज हजारों दीपक जाये जा रहे हैं! ऐसे प्रकाशमय स्थान से हमें बाहर क्यों निकाला जा रहा है?

अगर तुम वहां होते तो यही कहते कि यह पागल कितने मूर्ख हैं कि विनाश को भी प्रकाश मान रहे हैं! आह! लोगों की दशा कितनी दयनीय है!

पागल भ्रम में फंसे होने के कारण ही विनाश में आनन्द मान रहे हैं। इसी प्रकार आज की जनता भी ऊपरी भपके के भ्रम में पड़ी है और इसी कारण लोग ऊपरी भपका बढ़ाने में ही आनन्द मान रहे है। ऐसे लोगों से ज्ञानीजन कहते हैं—इस ऊपरी भपके के भ्रम से बाहर निकलो अन्यथा इस भपके के भड़के में ही भस्मीभूत हो जाओगे। ज्ञानीजन तो इस प्रकार चेतावनी देकर दिखावटी फैशन के चक्कर में से लोगों को निकालने का प्रयत्न करते हैं, मगर शौकीन लोग ज्ञानियों की चेतावनी की अवगणना करते हैं। इस अवगणना के फलस्वरूप उन्हें दुःख ही सहन करना पड़ता है; क्योंकि फैशन बढ़ने से पराधीनता बढ़ती है और पराधीनता में दुःख है।

स्वामी विवेकानन्द यूरोप-अमेरिका आदि देशों में धर्मप्रचार करके जब भारत लौटे, तो उन्होंने अपने अनुभव बतलाते हुये एक भाषण में कहा था—इस समय सारा यूरोप ज्वालामुखी के शिखर पर बैठा है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह ज्वालामुखी कब फटेगा और कब यूरोप का

वनाश होगा ! इसी प्रकार आज का फैशन भी ज्वालामुखी
के शिखर तक पहुंच चुका है । इस फैशन की वदौलत कब
वनाश का आगमन होगा, यह नहीं कहा जा सकता । आज
कितनेक लोग पैरिस आदि पाश्चात्य नगरों में जाकर और
वहां की ऊपरी तड़क-भड़क देखकर कहने लगते हैं—सारा
मजा तो बस, यहीं है ! हम लोग तो अभी जंगली दशा में
हैं । ऐसा मानने वाले लोगों को यह भान नहीं है कि इस
तड़क-भड़क के पीछे कैसी और कितनी परतन्त्रता छिपी हुई
है ! जिन्होंने तड़क-भड़क का त्याग कर दिया है उन्हें तुम
मूर्ख मानते हो । मगर यदि तुम इस बात का गम्भीर विचार
करोगे कि इस तड़क-भड़क से स्वतन्त्रता मिलती है या पर-
तन्त्रता मिलती है, तो अपने पूर्वजों को मूर्ख नहीं कहोगे ।
वास्तव में तुम ऊपरी तड़क-भड़क का त्याग करने वाले
अपने पूर्वजों को मूर्ख कह कर अपनी मूर्खता का ही परिचय
देते हो ।

आज स्वतन्त्रता की भावना क्षीण हो गई है और
इसी कारण त्यागशील पूर्वजों को मूर्ख समझा जाता है ।
उदाहरणार्थ—हरिश्चन्द्र के विषय में कहा जाता है कि उसने
अपना राज्य एक अयोग्य व्यक्ति को सौंप दिया, यह मूर्खता
नहीं तो क्या है ? मगर जिसने इतना महान् और अपूर्व
त्याग किया उसे मूर्ख कहना क्या उचित है ? हरिश्चन्द्र ने
कदाचित् वचनवद्ध होने के कारण अपने राज्य का त्याग
किया था, परन्तु शास्त्र में तो यहां तक कहा है कि—

चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
सन्ती सन्तिकरे लोऐ पत्तो गइमणुत्तर

इक्खागरायवसभो कुन्थू नाम नरेसरो।
विक्खायकित्ती भगवं पत्तो गुइमणुत्तरं ॥

—उत्तराध्ययन, अ० १८, गा० ३०-४०।

अर्थात्—जिनका सम्पूर्ण भरतखन्ड पर अधिकार था, उन भगवान् शान्तिनाथ और भगवान् कुन्थुनाथ ने अपनी समस्त ऋद्धि का त्याग किया था।

उन्होंने यह त्याग क्यों किया था? उनके त्याग का यही कारण था कि उन्हें उस ऋद्धि में परतन्त्रता प्रतीत हुई थी। उस ऋद्धि में उन्हें स्वतन्त्रता नहीं मालूम हुई। उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए ही राज्य की ऋद्धि का त्याग किया था।

भगवान् शान्तिनाथ चक्रवर्ती राजा थे, फिर भी उन्होंने शान्ति प्राप्त करने के लिए राजपाट को त्याग दिया। त्याग से ही शान्ति मिलती है। भोग से कभी किसी को न शान्ति मिली है, न मिलती है और न मिलेगी। अतएव भगवान् शान्तिनाथ ने शान्ति प्राप्त करने का जो मार्ग बतलाया है, उसे जीवन में स्थान देने से ही वास्तविक कल्याण होगा।

यह आशंका उठाई जा सकती है कि हम लोग अगर शान्ति धारण करके बैठे रहे तो बदमाश लोग हमें शान्त कैसे रहने देंगे? इसका उत्तर यह है कि अगर तुम्हारे भीतर वास्तविक शान्ति होगी तो कोई दूसरा तुम में अशान्ति उत्पन्न कर ही नहीं सकता। अशान्ति तो अपने भीतर मौजूद अशान्ति के कारण ही होती है। अतएव शान्ति प्राप्त करने के लिए त्याग-भावना को अपनाना चाहिए। तुम त्याग

तो करते हो मगर त्याग की पद्धति ठीक न होने के कारण तुम्हें शान्ति प्राप्त नहीं होती। उदाहरणार्थ—एक किसान गीली जमीन में बीज बोता है और दूसरा सूखी जमीन में। गीली जमीन में बोया हुआ बीज तो अंकुरित हो जाता है, पर सूखी जमीन में बोया बीज जल के अभाव में कैसे अंकुरित हो सकता है? इसी प्रकार तुम लोग जो त्याग करते हो वह सूखी जमीन में बोये बीज की तरह निष्फल जाता है। त्याग निष्फल हो जाने से तुम्हें शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अगर कोई पदार्थ अहंकारपूर्वक त्यागा जाता है तो वह त्याग शान्ति देने वाला और परमात्मा के शरण में ले जाने वाला सिद्ध नहीं होता। शान्ति देने वाला सच्चा त्याग तो वही है जो बिना किसी अभिमान के परमात्मा को समर्पित कर दिया जाये! परमात्मा को समर्पित करने की दृष्टि से किया हुआ त्याग हमेशा फलदायक होता है, क्योंकि इस प्रकार त्याग करने वाले को किसी दिन पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं आता।

मान लो, तुमने किसी मनुष्य को हजार रुपया उधार दिये। उधार लेने वाले ने दिवाला निकाल दिया। ऐसी स्थिति में तुम्हें हजार रुपये के लिए पश्चात्ताप होना स्वाभाविक है। इसके बजाय वही हजार रुपया अगर दान दिया होता तो क्यों पश्चात्ताप होता? इस प्रकार परमात्मा को समर्पण करने की दृष्टि से जो त्याग किया जाता है, उस त्याग के लिए पश्चात्ताप करने का कोई कारण नहीं रहता।

प्रत्येक वस्तु की तीन अवस्थाएं होती हैं—दान, भोग और नाश। तुम लोग वस्तु का भोग करते हो और उसका

नाश भी होता देखते हो, परन्तु दान में बहुत कम उपयोग करते हो। आजकल वस्तुओं का भोग और नाश तो होता दिखाई देता है परन्तु दान में बहुत कम उपयोग होता है। इस जमाने में बहुत बेकारी है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु वस्तुओं का भोग और नाश करने में क्या कुछ कमी रखी जाती है ? कमी तो वस्तुओं के दान में ही आई है।

यहां एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वह यह कि वस्तुओं का भोग और नाश करने से तो अन्त में पश्चात्ताप ही पल्ले पड़ेगा परन्तु दान में वस्तुओं का उपयोग करने से पश्चात्ताप का अवसर नहीं आएगा। अत एव प्राप्त सम्पत्ति का भोग और नाश करके ही दुरुपयोग मत करो, उस सम्पत्ति का दान देकर सदुपयोग करना सीखो।

कुछ लोग तो दान करने में भी पाप मानते हैं। उन लोगों की मान्यता यह है कि हम जिनको दान देते हैं, वह दान लेने वाले अगर कोई पाप कर्म करें तो उनके सब कर्मों का पाप हमें लगता है इत्यादि। मारवाड़ में ऐसी मान्यता वाले लोग हैं। इन लोगों के बीच भ्रमण करके मैंने उनकी इस दुर्भावना को दूर करने का प्रयत्न भी किया था और उन्हें समझाया था कि उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। दान में विवेक रखने आवश्यकता तो है, मगर दान में एकान्त पाप मानना गलत है। लोगों को दान में पाप मानने की बात बहुत जल्दी पसन्द आ जाती है, क्योंकि पाप मानने से गांठ का कुछ जाता नहीं और धर्म भी हो जाता है। ऐसी बात जल्दी पसन्द आना स्वाभाविक है। दान में विवेक रखना ठीक है मगर एकान्त पाप मानना ठीक नहीं है। बीज नष्ट हो जाने के डर से बोना ही छोड़ बैठना

बुद्धिमत्ता नहीं है । एक किसान खेती करता है और बीज का आरोपण करता है जब कि दूसरा किसान खेती करता है किन्तु बीज नष्ट हो जाने के भय से बीज ही नहीं बोता ! इन दोनों में से तुम किसे ठीक कहोगे ? इसी प्रकार एक आदमी दान में विवेक रखता है मगर दान देता है और दूसरा, दान लेने वाला जो पाप कर्म करेगा वह पापकर्म मुझे लगेगा, इस भय से दान ही नहीं देता । इन दोनों मनुष्यों में से वही मनुष्य अच्छा कहलाएगा जो दान देगा । दान ही न देना तो बीज ही न बोने के समान है । अतएव विवेकपूर्वक दान तो अवश्य देना चाहिए । पाप के भय से दान ही न देना अनुचित है ।

सुना है, अमेरिका में एक बार दो मित्र जा रहे थे। रास्ते में एक लंगड़ा मनुष्य बैठा दिखाई दिया। दोनों मित्रों में से एक को उस लंगड़े पर दया आई और उसने अपने जेब से कुछ रुपये निकाल कर उसे दे दिये । यह देखकर दूसरे ने कहा—तुमने इस अपग मनुष्य को रुपये तो दिये मगर इससे उसका भिखारीपन दूर नहीं हुआ । रहा तो भिखारी का भिखारी ही । तुम्हारा यह दान करुणादान तो अवश्य है पर उसे ऐसा दान देना चाहिए कि उसका भिखारीपन ही मिट जाए और वास्तव में ऐसा दान करना ही श्रेष्ठ दान है। इस प्रकार कहकर वह दूसरा मित्र उस अपंग को अपने घर ले गया। वह उसने उसे हुनर–उद्योग सिखाया और लकड़ी तथा रबड़ के कृत्रिम पैर बनाकर उसके पैर दुरुस्त कर दिये । वह अपंग हुनर–उद्योग के द्वारा अपना और दूसरों का भी पोषण करने में समर्थ बन सका । दान तो दोनों मित्रों ने दिया, परन्तु किस मित्र का दान सच्चा

और ऊंचा दान है, इस बात पर विचार करो। जिस मित्र ने रुपये का दान दिया उसका दान भी करुणादान था परन्तु दूसरे ने भिखारीपन दूर करने का जो दान दिया वह उस की अपेक्षा अधिक प्रशस्त है ! इस प्रकार दान में विवेक रखना अच्छा है परन्तु दान देने में पाप ही मान कर उचित नहीं कहा जा सकता।

न्यायमूर्ति रानडे के विषय में सुना है कि जब वे हाईकोर्ट के जज थे तब एक बार दुष्काल के समय घोड़ागाड़ी में बैठकर हवाखोरी के लिए जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने देखा कि एक मनुष्य गोबर में से अन्न के दाने बीन रहा है। यह दृश्य देखकर उनका दिल दया से द्रवित हो उठा। वह मन ही मन कहने लगा बेचारे लोगों की कैसी दीन दशा है और मैं बग्घी में सवार होकर घूम रहा हूं ! दया भाव से प्रेरित होकर वे उस मनुष्य को अपने घर ले गये और उसकी आजीविका की उचित व्यवस्था कर दी। इस घटना के बाद उन्होंने अपनी नौकरी त्याग दी और वे गरीबों की सेवा करने में ही प्रवृत्त हो गये।

कितनेक लोगों के कथनानुसार इस प्रकार के अशक्तों को सशक्त बनाना शस्त्र को तीक्ष्ण बनाने के समान है। परन्तु ऐसा मानना एक प्रकार की भूल है। हम लोग शिष्य बनते हैं। इस समय कोई मोक्ष में तो जाता ही नहीं है, अतः वे देवलोक में जाएंगे और वहां सुख का उपभोग करेंगे। क्या यह पाप हमें लगना चाहिए ? अगर नहीं तो फिर यही न्याय सब जगह लागू क्यों नहीं किया जाता ? लोग सशक्त-मनुष्य द्वारा होने वाला पाप तो देखते हैं मगर

करुणा करने वाले के उच्चभाव को नहीं देखते। करुणा करने वाले की भावना पाप कराने की नहीं है, दुखी का दुःख दूर करने की है। ऐसी स्थिति में करुणा करने वाले में भावना रक्खो। अनुकम्पा करने में पाप है यह मान्यता ही भूलभरी है। अनुकम्पा करने वाला और दान देने वाला किसी दिन सुबाहुकुमार जैसी ऋद्धि प्राप्त कर सकता है, अन्यथा पुण्य संचय करने में तो संदेह ही नहीं है। इसलिए अनुकम्पा करने का प्रयत्न करो। अनुकम्पा करने से कल्याण ही है। अपने घर से ही अनुकम्पा आरम्भ करो। ज्यों-ज्यों अनुकम्पा वढ़ती जायेगी त्यों-त्यों विश्वमैत्री बढ़ती जायेगी। अतएव सब जीवों के प्रति अनुकम्पा और दान की वृत्ति रखने का ध्यान रक्खो। इसी में कल्याण है।

कहने का आशय यह है कि जो आनन्द स्वतन्त्रता में है, वह परतन्त्रता में नहीं। अतएव स्वतन्त्रता को मत भूलो। आज के लोग परावलम्वी बनते जा रहे हैं और उनकी आवश्यकताएं इतनी अधिक बढ़ रही हैं कि उन्हें स्वतन्त्रता के विषय में विचार करने की फुर्सत ही नहीं मिलती। ऐसी पराधीन दशा में दूसरों की अनुकम्पा किस प्रकार हो सकती है? दूसरे जीवों के प्रति अनुकम्पा करने के लिए अपनी आवश्यकताएं कम करना आवश्यक है। अपनी आवश्यकता कम करना अपने सांसारिक वन्धनों को कम करने के समान है। अतएव स्वतन्त्रता की भावना को हृदय में स्थान देकर सांसारिक वन्धनों को तोड़ने का प्रयत्न करो। ऐसा करने में ही स्व-पर कल्याण है।



# चौतीसवां बोल

## उपधिप्रत्याख्यान

तेतीसवें बोल में संभोग के प्रत्याख्यान के विषय में विचार किया गया। संभोग का त्याग करने से आलम्बन का त्याग भी करना पड़ता है। आलम्बन का त्याग करना साधारण आदमी के लिए सरल काम नहीं है। शक्तिशाली महात्मा ही आलम्बलन का त्याग कर सकते हैं। जिनमें संभोग का त्याग करने की शक्ति होती है वे संभोग का त्याग कर देते हैं और साथ ही साथ उपधि (उपकरण) का भी त्याग कर देते हैं। इस कारण अब गौतम स्वामी उपधि के त्याग के विषय में भगवान् से प्रश्न करते हैं--

### मूलपाठ

**प्रश्न—उवहिपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?**

**उत्तर—उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ, निरुवहिए णं जीवे निक्कंखे उवहिमन्तरेण य न संकिलिस्सइ ॥३४॥**

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! उपधि का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—हे गौतम ! उपधि का त्याग करने से जीव उपकरण धरने—उठाने की चिन्ता से मुक्त हो जाता है और उपधिरहित जीव निस्पृही ( स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन में

निश्चिन्त रहने वाला ) होकर उपधि के अभाव में शारीरिक या मानसिक क्लेश अनुभव नहीं करता।

## व्याख्यान

उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को होने वाले लाभों पर विचार करने से पहले उपधि क्या है, इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता, है। उपधि का अर्थ है—उपकरण या साधन। यह उपकरण या साधन दो प्रकार के हैं। एक साधन तो सद्गति में ले जाने वाला होता है और दूसरा अधोगति में ले जाने वाला। उपधि का व्याख्यान करते हुए कहा गया है—'उपधीयते इति उपधिः।' अर्थात् जिसमें उपधि हो वह उपधि कहलाती है। इस प्रकार कोई-कोई उपधि दुर्गति में ले जाने वाली और कोई सद्गति में ले जाने वाली होती है। दुर्गति में ले जाने वाली उपधि में धन-धान्य आदि परिग्रह का समावेश होता है और सद्गति में पहुंचाने वाली उपधि में उन चीजों का समावेश होता है जो संयम में स्थिर करने वाली हैं। उपधि तो दोनों ही हैं परन्तु सर्वप्रथम अशुभ का ही त्याग किया जाता है, शुभ का नहीं। जिन्होंने संयम धारण किया है वह दुर्गति में ले जाने वाली धनधान्य आदि उपधि का तो पहले ही त्याग कर डालते हैं, उन्हें सिर्फ संयम में स्थिर रखने वाली उपधि का त्याग करना शेष रहता है। शास्त्रकार कहते हैं—अगर किसी में शक्ति हो तो संयम में स्थिर करने वाली उपधि का भी त्याग कर देना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं—परिग्रह हमारे पास भी है और साधुओं के पास भी है। जैसे हमें अन्न-वस्त्र चाहिए, उसी प्रकार महाराज को भी अन्न-वस्त्र चाहिए।

कहने वाले लोग अपनी और साधु की एक ही गति है, ऐसा कहते जान पड़ते हैं। दूसरी ओर कुछ लोग कहते हैं—साधु को उपकरण की क्या आवश्यकता है? साधु को तो दिगम्बर रहना चाहिए और जो साधु दिगम्बर रहता हो, वही साधु है। इस प्रकार दो अलग-अलग मत प्रचलित है। इन दो मतों के कारण हो परस्पर वाद-विवाद और कलह उत्पन्न हुआ करती है। पर शास्त्रकार कहते हैं कि इस तरह के वाद-विवाद में न पड़कर उपधि-उपकरण का विवेकपूर्वक त्याग करो। जो भी त्याग करो विवेकपूर्वक हो करो। ऐसा करने में ही त्याग की शोभा है। मान लो, किसी मनुष्य ने धोती भी पहनी है और पगड़ी भी पहनी है। अब अगर उसमें त्याग-भावना आ जाये तो वह सर्वप्रथम किसी वस्तु का त्याग करेगा ? पहले धोती त्यागेगा या पगड़ी त्यागेगा ? उसके लिए पहले पगड़ी का त्याग करना ही उचित है। लेकिन यदि वह आग्रह करे कि मैं तो पहले धोती त्यागूंगा और पगड़ी पहने रखूंगा, तो क्या वह त्याग का आग्रह विवेकपूर्वक कहलाएगा ? अतएव जो कुछ भी त्याग किया जाए वह सब विवेकपूर्वक ही होना चाहिए। जिस वस्तु का त्याग करने की शक्ति नहीं है, उसका भी त्याग करके नवीन कठिनाइयां उपस्थित करना उचित नहीं है।

पांच समिति और तीन गुप्ति जैनशास्त्रों का सार है। समिति अर्थात् प्रवृत्ति और गुप्ति अर्थात् निवृत्ति। उपदेश तो गुप्ति अर्थात् मन, वचन और काय की निवृत्ति के लिए ही है, परन्तु निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति न हो तो धर्म में गति ही कैसी होगी ? इस कारण भगवान् ने पांच समितियों के द्वारा प्रवृति वतलाई है और मन, वचन, काय द्वारा अशुभ

प्रवृत्ति न करने के लिए कहा गया है। प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्वक करना समिति है। चलते समय ईर्यासमिति का ध्यान रखना आवश्यक है। ईर्यासमिति का ध्यान न रखा जाये तो गुप्ति का भंग होता है। अतएव चलने में, बोलने में, भिक्षा लेने में अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय साधु को पांच समिति और तीन गुप्ति का ध्यान रखना आवश्यक है। समिति और गुप्ति प्रवचन माता कहलाती है। वीरपुत्र साधु को अपने प्राणों का भी उत्सर्ग करके प्रवचनमाता की रक्षा करनी चाहिए।

शरीर टिकाने के लिए जब भिक्षु को भिक्षा लेनी पड़ती है, जब भिक्षा लेने के लिए पात्रों की भी आवश्यकता रहती है। अगर साधु पात्र न रखे और गृहस्थों के पात्र में भोजन करे या गृहस्थों के पात्र का उपयोग किया करे तो अनेक अनर्थ उत्पन्न होने की संभावना है। यह बात दृष्टि में रखकर ही साधुओं को काष्ठ, तूम्बा या मिट्टी के पात्र रखने की छूट दी गई है। जब पात्र लेकर भिक्षा के लिए जाना पड़ता है तो पात्र रखने के लिए झोली भी चाहिए ही और लज्जा की रक्षा के लिए वस्त्र भी चाहिए! भगवान् ने कहा है—अगर पात्र रखोगे तो तुम अपने संयम की रक्षा कर सकोगे और रोगी या वृद्ध साधुओं की सेवा भी कर सकोगे। अगर तुम स्वयं गृहस्थों के घर खाते होगे अथवा गृहस्थों के पात्र में जीमते होगे तो वृद्ध तथा रोगी आदि संतों के लिए भिक्षा किस प्रकार और कहां से लाओगे? कदाचित् यह कहो कि हम गृहस्थों के घर जीमेंगे और वृद्ध तथा रोगी साधुओं की सेवा गृहस्थ करेंगे, तो ऐसा करने में अयतना होगी और संयम में बाधा आएगी।

अतएव संयम पालन के लिये पात्र भी उपकारी है।

जो भोजन किया जाता है वह शरीर में रसभाग और खलभाग में परिणित होता है। खलभाग का-जो मल मूत्र रूप होता है-त्याग करना ही पड़ता है। मलमूत्र का त्याग दश बोलों का ध्यान रखकर करना चाहिए।

साधु-क्रिया से अनभिज्ञ कुछ लोगों का कहना है कि साधु मल को बिखेरते हैं, परन्तु यह कथन भ्रामक और मिथ्या है। ऐसा करने से तो साधु को प्रायश्चित लगता है। मलमूत्र का त्याग करने में साधुओं को विवेक तो रखना ही पड़ता है, परन्तु मलमूत्र का विसर्जन करते समय साधु ऐसी कोई क्रिया नहीं करते कि उन्हें मलमूत्र का स्पर्श करना पडता है।

यहां कोई यह पूछ सकता है कि यह तो साधुओं के आचार-विचार की बात हुई, परन्तु शास्त्र में गृहस्थों के लिए भी कोई धर्म वताया है या नहीं, और उनके लिए किसी प्रकार का विधि-विधान किया गया है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र में गृहस्थों का धर्म न वतलाया जाये यह कैसे संभव है ? क्योंकि साधुओं का धर्म गृहस्थों के धर्म पर ही आश्रित है। इसीलिए उववाई सूत्र में कहा है—

**दुविहे धम्मे पण्णत्ते, तंजहा—आगारधम्मे अणगार-धम्मे य।**

अर्थात्—धर्म दो प्रकार के हैं—गृहस्थधर्म और साधुधर्म।

साधुधर्म का आधार गृहस्थ का धर्म ही है । श्री जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र में कहा है कि जब धर्म का नाश होगा तो सर्वप्रथम साधुधर्म का नाश होगा और फिर गृहस्थधर्म का नाश होगा । साधुधर्म जीवित रहे और गृहस्थधर्म नष्ट हो जाए, ऐसा कभी हो ही नहीं सकता, क्योंकि गृहस्थधर्म, साधुधर्म का आधार है और यदि गृहस्थ लोग अपने धर्म का सम्यक् प्रकार पालन न करे तो ऐसी दशा में साधुधर्म का भी सम्यक् प्रकार से पालन नहीं हो सकता । अतएव गृहस्थों को अपने धर्म का यथोचित पालन करना चाहिए। धर्म किसी व्यक्ति को, फिर वह साधु हो या गृहस्थ हो, किसी प्रकार के बन्धन में बद्ध नहीं करता । धर्म तो अविवेक को दूर करता है । धर्म का कथन यह है कि जो कुछ करो विवेकपूर्वक ही करो । गृहस्थों को विवेक समझने के लिए ही शास्त्र में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत बतलाये गये हैं । इन बारह व्रतों को ही आगारधर्म कहते हैं । पहले अहिंसाव्रत में श्रावक को हिंसा का त्याग करना पड़ता है । गृहस्थ-श्रावक हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, अतएव उसे स्थूल हिंसा का त्याग करने का विधान किया गया है । स्थूल हिंसा किसे कहना चाहिए और सूक्ष्य हिंसा क्या है, इस [illegible]
कारों ने जगत् के जीवों की सुविधा के
की व्याख्या करते हुए कहा है—जो
दिखाई देते हैं, उनका घात करना स्थू
श्रावक को ऐसे जीवों की हिंसा नहीं

तो पृथ्वी, पानी आदि में भी हैं, परन्तु वे प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते और गृहस्थ-श्रावक उन जीवों की हिंसा से बच नहीं सकता। अतएव जो जीव प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उनकी हिंसा श्रावक को नहीं करना चाहिए।

इस पर कोई गृहस्थ कह सकता है कि अगर हम ऐसे हिंसा से बचते ही रहें और अहिंसक बनकर बैठे रहें तो हमारा संसार-व्यवहार ही न चले! इसका समाधान यह है कि यह ख्याल ही गलत है। एक बार एक डाक्टर साहब ने भी मुझे ऐसे ही कहा था। उनका कहना था-अगर हम अहिंसक ही बन जाएं तो ऐसी दशा में अनेक मनुष्य मर जाएं।' मनुष्यों की रक्षा के लिए हमें हिंसा करनी ही पड़ती है। रोग के कीटाणु जो रोगी के शरीर में होते हैं, उनका हमें विनाश करना पड़ता है। अगर कीटाणु नष्ट न किए जाएं तो रोगी जीवित नहीं रह सकता और कीटाणुओं का नाश करने से हिंसा होती है। ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए और किस प्रकार अहिंसा का पालन करना चाहिए? डाक्टर का कर्त्तव्य निभाने के लिए हमें दवा से, इन्जेक्शन से या आपरेशन से कीटाणुओं का नाश करना ही पड़ता है।

डाक्टर की तरह और लोग भी कहने लगते हैं-'वास्तव में कीड़ों को बचाना चाहिए या मनुष्यों को बचाना चाहिए?'

मैंने उस डाक्टर साहब से कहा—'कीड़े दो प्रकार के होते हैं—आरोग्यरक्षक और आरोग्यभक्षक। आरोग्यनाशक कीड़े के कारण ही रोग उत्पन्न होता है। तुम लोग यह मानते हो कि हम दवा द्वारा आरोग्य नाशक कीड़ों को ही

मारते हैं, मगर इसी मान्यता में भूल है। वास्तव में तुम आरोग्यरक्षक कीड़ों को सशक्त बनाते हो। ऐसा करने से आरोग्यनाशक कीड़े अशक्त होकर स्वत मर जाते हैं। तुम आरोग्यनाशक कीड़ों को मार डालते हो, यह तुम्हारा ख्याल गलत है। तुम ऐसा क्यों नहीं मानते कि दवा द्वारा तुम आरोग्य रक्षक कीटाणुओं को सशक्त बनाते हो ? इस दृष्टि से विचार करने पर तुम्हारा लक्ष्य कीड़ों को मारना नहीं वरन् सशक्त बनाना सिद्ध होता है। यही दृष्टि लक्ष्य में रखोगे तो हिंसा करने के बदले रक्षा करने का तुम्हारा लक्ष्य रहेगा। उदाहरणार्थ जब दीपक जलाया जाता है तो अंधकार स्वतः नष्ट हो जाता है। परन्तु यह नहीं कहा जाता है कि अंधकार नष्ट हुआ, वरन् यही कहा जा सकता दीपक उजल गया है ! इसी प्रकार अगर दवा द्वारा कीटाणुओं को सशक्त बनाना कहा जाए और ऐसा ही माना जाये तो हिंसा के समर्थन के बदले अहिंसा का समर्थन होता है।

संसार में कुछ लोग अंधकार का समर्थन करने वाले निकल आएंगे और कुछ प्रकाश का समर्थन करने वाले निकलेंगे, परन्तु प्रकाश का समर्थन करने वाले शुक्लपक्षीय कहलाएंगे और अंधकार का समर्थन करने वाले कृष्णपक्षीय कहलाएंगे। प्रकाश तो शुक्लपक्ष में भी रहता है और कृष्ण पक्ष में भी रहता है, फिर भी एक को शुक्लपक्ष और दूसरे को कृष्णपक्ष क्यों कहते हैं ? इसका कारण यही है कि एक पक्ष प्रकाश का समर्थक है और दूसरा पक्ष अं
समर्थक है। इसी कारण दोनों पक्षों के नाम ि
साधारणतया देखा जाये तो पूर्णिमा के
प्रतिपद् के दिन अंधकार कम होता है

वाला है। क्योंकि वह थोड़े से लाभ के लिए महान् अनर्थ करने को तैयार हुआ है। वृक्ष काट डालने से केवल उन्हें ही थोड़े से फल मिल जाएंगे, परन्तु वृक्ष अगर कायम रहा तो न जाने कितने लोगों को आम मिलेंगे ! ऐसा होने पर भी वह मनुष्य स्वार्थ में अंधा होकर महान् अनर्थ करने पर उतारू हो गया है। वह कृष्णलेश्या वाला है।

दूसरे मनुष्य ने पहले से कहा—'भाई ! सारा पेड़ काटने से क्या लाभ ! अगर वृक्ष की शाखाओं को काट लिया जाये तो फल मिल जाएंगे और वृक्ष भी कायम रह सकेगा।' इस दूसरे मनुष्य की लेश्या भी थोड़े लाभ के लिए विशेष हानि करने की है, फिर भी पहले मनुष्य की अपेक्षा अच्छी है। अतएव दूसरा मनुष्य नीललेश्या वाला कहलाता है।

तीसरे मनुष्य ने कहा—'भाई ! आम तने में तो लगे नहीं। आम तो छोटी-छोटी डालियों में लगते हैं, फिर वृक्ष की शाखा काटने से क्या लाभ है ? छोटी डालियां काट लेना ही अच्छा है, इससे हमें आम भी मिल जाएंगे और वृक्ष भी बचा रहेगा। इस तीसरे मनुष्य के विचार के अनुसार कार्य होने में हानि अधिक और लाभ थोड़ा-थोड़ा है, अतएव इसकी लेश्या कापोती होने के कारण पापकारिणी तो है ही, फिर पहले और दूसरे मनुष्य की लेश्या की अपेक्षा यह लेश्या अच्छी है। यह तीनों लेश्याएं पापकारिणी और अप्रशस्त मानी जाती हैं।

चौथे मनुष्य ने कहा—'भाई ! डालियां काटने से पत्ते भी कट जाएंगे और वृक्ष भी छाया देने योग्य नहीं

भाई थे, जिनमें सबसे छोटे भाई का नाम वहिलकुमार था। वहिलकुमार के पास एक कीमती हार और एक हाथी था। यह हार और हाथी उसके पिता ने उसे पुरस्कार दिया था। वहिलकुमार को राज्य में कोई हिस्सा नहीं मिला था। उसने हार और हाथी पाकर संतोष कर लिया था।

वहिलकुमार हाथी पर सवार होकर आनन्दपूर्व क्रीड़ा करता था। लोग उसकी प्रशंसा करते हुए कहते थे—राज्य के रत्नों का उपभोग तो वहिलकुमार ही करते हैं। कोणिक के लिए तो केवल राज्य का भार ही है! लोगों का यह कथन कोणिक की रानी पद्मा के कानों तक पहुंचा। रानी ने विचार किया—'किसी भी उपाय से वह हार और हाथी राज्य में मंगवाना चाहिए।' यह सोचकर रानी ने कोणिक से कहा—नाथ! राजा आप हैं मगर राज्य के रत्नों का हार और हाथी का उपभोग वहिलकुमार करता है। तुम्हारे पास तो केवल निस्सार राज्य ही है!'

कोणिक ने कहा -स्त्रियों की बुद्धि बहुत ओछी होती है। इसी कारण तू ऐसा कहती है। वहिलकुमार के पास तो सिर्फ हार और हाथी हैं, मगर मैं तो सारे राज्य का स्वामी हूं। इसके अतिरिक्त वहिलकुमार के पास हार और हाथी है तो कोई गैर के पास थोड़े ही है! आखिर है तो मेरे भाई के पास ही न?

रानी पद्मा ने सोचा—मेरी यह युक्ति काम नहीं आई। अब दूसरा कोई उपाय काम में लाना चाहिए। यह सोच-कर उसने कोणिक से कहा—तुम्हें अपने भाई पर इतना

पूर्ण मान्या कुछ जैन नामधारी लोगों के कायरतापूर्ण व्यवहार से ही प्रचलित हो गई है। जैनधर्म गृहस्थ के लिए यह नहीं कहता कि गृहस्थ अपराधी को मारने का भी त्याग करे। गृहस्थ के लिए जैनधर्म ने अपराधी को मारना निषिद्ध नहीं ठहराया है और न अपराधी को दण्ड देने वाले को पापी ही कहा है ! यह बात स्पष्ट करने के लिए यहां एक उदाहरण दिया जाता है—

जिस समय भारतवर्ष में चारों ओर अराजकता फैलती जा रही थी और शक्तिशाली लोग अशक्तों को सता रहे थे, उस समय नौ लिच्छवी और नौ मल्ली नामक अठारह राजाओं ने मिलकर एक गण-संघ की स्थापना की थी। इस गणसंघ का उद्देश्य सबलों द्वारा पीड़ित निर्बलों की रक्षा करना था। गणसंघ के अठारह गणराजाओं का गणनायक (President) चेटक राजा था। राजा चेटक या चेड़ा भगवान् महावीर का पूर्ण भक्त था, आज तुम लोग ढीली धोती पहनने वाले बनिया बन रहे हो, परन्तु जैनधर्म क्षत्रियों का धर्म है। तुम्हें धर्म ने बनिया नहीं बनाया है। तुम महाजन बने थे। व्यापार में लग जाने के कारण आज तुममें गुलामी का भाव आ गया है और तुम बनिया बन गये हो ! स्वार्थ की अधिकता के कारण तुम्हारे हृदय में कायरता और गुलामी घुस गई है। वास्तव में वणिक नहीं, महाजन हो।

सशक्त लोगों से निर्बलों की रक्षा करने के लिए ही गणसंघ की स्थापना की गई थी। जिस समय की यह घटना है उस समय चम्पा नगरी में कोणिक राजा राज्य करता था। कोणिक राजा श्रेणिक का पुत्र था। कोणिक के बारह

अधिक विश्वास है, यह मुझे नहीं मालूम था। तुम्हें इतना विश्वास है, यह अच्छा ही है। मगर एक वार अपने विश्वास पात्र भाई की परीक्षा तो कर देखो कि उन्हें तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है और तुम्हारे विश्वास पर वह हार तथा हाथी भेजता है या नहीं ?

कोणिक को यह वात पसन्द आ गई। उसने बहिलकुमार के पास संदेश भिजवा दिया—इतने दिनों तक हार और हाथी का उपभोग तुमने किया है। अब कुछ दिनों तक हमें उपभोग करने दो।

यह संदेश पाकर वहिलकुमार ने सोचा अब कोणिक की नजर हार और हाथी पर पड़ी है। वह प्रत्येक उपाय से हार–हाथी को हस्तगत करने की चेष्टा करेगा। मुझे राज्य में कोई हिस्सा नहीं मिला। फिर भी मैंने हार–हाथी पाकर ही सन्तोष मान लिया। अब यह भी जाने की तैयारी में है !

इस प्रकार विचार कर और हार तथा हाथी को वचाने के लिए बहिलकुमार रात्रि के समय निकल पड़ा और अपने नाना राजा चेटक की शरण में जा पहुंचा। वहिलकुमार ने राजा चेटक को सारी घटना कह सुनाई। चेटक ने सम्पूर्ण घटना सुनकर बहिलकुमार से कहा—'तुम्हारी वात ठीक हैं।' राजा चेटक ने उन्हें अपने यहां आश्रय दिया।

बहिलकुमार हार और हाथी लेकर वाहर चला गया है, यह समाचार सुनते ही पद्मा रानी को कोणिक के कान भरने के लिए पूरी सामग्री मिल गई। वह कोणिक के पास जाकर कहने लगी—तुम जिसे भाई-भाई कहकर ऊंचा चढ़ाते

थे, उसकी करतूत देख ली न ! तुम्हारे भाई को तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है ! उसने हार और हाथी नहीं भेजा। इतना ही नहीं, कदाचित् तुम जबरदस्ती हार-हाथी इस भय से वह अपने नाना को शरण में भाग गया है। वहां जाने की कोई खबर भी उसने तुम्हारे पास नहीं भेजी। अब मैं देखती हूं कि तुम क्या करते हो और हार तथा हाथी प्राप्त करने के लिए कैसी वीरता दिखाते हो !

इस प्रकार की उत्तेजनापूर्ण बातें कहकर पद्मा ने कोणिक को खूब भड़काया। पद्मा की यह बातें सुनकर कोणिक को भी क्रोध आ गया। वह कहने लगा मैं चेड़ा राजा के पास अभी दूत भेजता हूं। अगर चेड़ा राजा बुद्धिमान होगा तो वहिलकुमार को हार और हाथी के साथ मेरे पास भेज देगा।

कोणिक का दूत चेटक के पास पहुंचा। दूत का कथन सुनकर चेटक ने उत्तर में कहला दिया मेरे लिए तो कोणिक और वहिलकुमार दोनों सरीखे हैं। परन्तु जैसे कोणिक ने अपने दस भाइयों को राज्य में हिस्सा दिया है उसी प्रकार बहिलकुमार को भी हिस्सा दिया जाये अथवा हार और हाथी रखने का अधिकार उसे दिया जाये।

चेटक का यह उत्तर न्यायदृष्टि से ठीक था। मगर सत्ता के सामने न्याय-अन्याय कौन देखता है ! जिसके हाथ में सत्ता है, वह तो यही कहता है कि हमारा वाक्य न्याय है और जिधर हम उंगली उठावें उधर ही पूर्व दिशा है।

चेटक का उत्तर सुनकर कोणिक ने फिर [illegible] भे [illegible]

हम राजा हैं। रत्नों पर राजा का अ [illegible]

तुम्हे हमारे बीच में पड़ने की कोई [illegible] हीं

प्राण तक देने पर उतारू हो गए। परन्तु तुम लोग धर्म की रक्षा के किए कुछ करते हो ? क्या तुम धर्म की रक्षा के लिए थोड़ा-सा भी स्वार्थ त्याग सकते हो ? स्वार्थ त्याग करने से ही धर्म की रक्षा हो सकती है। गणराजाओं जैसी परिस्थिति अगर तुम्हारे सामने उपस्थित हो जाये तो तुम क्या करोगे ? कदाचित् तुम यही सोचोगे कि कहां का हार और कहां का हाथी ! हमारा उससे क्या लेन-देन है ? मगर क्या यह राजा लोग ऐसा नहीं सोच सकते थे ? वास्तव में इस प्रकार विचार करना कायरता का काम है। वीर पुरुष ऐसा तुच्छ विचार नहीं करते। वे दूसरों की रक्षा के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। आज तो लोगों में कायरता व्याप गई है। यह कायरता स्वार्थपूर्ण व्यापार के कारण आई है, मगर लोगों का कहना है कि वह धर्म के कारण आई है। यह कहना एक गम्भीर भूल है। धर्म के कारण कायरता कदापि नहीं आ सकती। वीर पुरुष ही धर्म का पालन कर सकते हैं।

समस्त गणराजाओं के साथ चेड़ा राजा युद्ध के लिए तैयार हो गया। इधर कोणिक राजा भी अपने दसों भाइयों के साथ युद्ध के लिए तैयार हुआ। यद्यपि कोणिक के दस भाई कह सकते थे कि हम सबको राज्य का हिस्सा मिला है तो वहिलकुमार को भी हिस्सा मिलना चाहिए, परन्तु उन्होंने भी सता के सामने मस्तक झुका दिया। इतिहास-वेत्ताओं का कथन है कि गणराज्य प्र
समान था। परन्तु दूसरे राजा स्वच्छन्द
अन्याय करते थे।

वरुण नागनतुआ नामक एक श्रावक था। यह श्रावक वेले वेले पारणा करता था। वह चेटक राजा का सामन्त था। एक वार उसे युद्ध में आने के लिए कहा गया। उस समय उसके दूसरा उपवास था। क्या ऐसा उपवास करने वाले को युद्ध में जाना उचित था? क्या वह नहीं कह सकता कि मैं उपवासी हूं। युद्ध में कैसे जा सकता हूं? परन्तु उसने कोई उत्तर न देते हुए यही कहा कि अवसर आने पर सेवक को स्वामी की सेवा करनी ही चाहिए। स्वामी की सेवा करने के ऐन मौके पर कोई बहाना बनाकर किनारा काटना अनुचित है। अवसर आने पर नमकहराम बनना क्या हरामखोरी नहीं है?

आज भारतवर्ष में बड़ी हरामखोरी दिखाई देती है। जो लोग भारत का अन्न खाते हैं वही भारत की नाक काटने वाले कामों में शामिल होते हैं। जो वस्त्र भारत को गुलाम बनाते हैं, उन्हीं को वे अपनाते हैं। भारत की सभ्यता को, रहन-सहन आदि को भुला देते हैं। यह नमकहरामी नहीं तो क्या है? वायसराय गवर्नर आदि आते हैं और भारत का शासन करते हैं, पर उन्हें भारतीय वेषभूषा पहनने के लिए कहा जाए तो क्या वे कहना मानेंगे? वे यही उत्तर देंगे कि हम तो अपनी मातृभूमि की सेवा बजाने आये हैं, द्रोह करने नहीं। अतएव हम अपना वेश कैसे छोड़ सकते हैं? इस प्रकार अंग्रेज लोग भारत में रहते
पोशाक पहन कर फूले नहीं समाते। यह कृ
और क्या है? पोशाक और रहन स
पहचान होती है। मगर आज भारत

व्यवहार ही है। अगर जैनधर्म का यथोचित पालन किया जाये तो देश, समाज और धर्म का उत्थान हुए विना नहीं रह सकता। धर्मपालन के लिए वीरता और धीरता की आवश्यकता रहती है। जो मनुष्य अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता वह दूसरों की रक्षा कैसे कर सकता है? देश, समाज और धर्म के उत्थान के लिए सर्वप्रथम नैतिक बल प्राप्त करने की आवश्यकता है।

तुम श्रावकधर्म का गम्भीर विचार करो और उसका भलीभांति पालन करने का प्रयत्न करो। अगर तुम सभी वस्तुओं के त्यागी होते या साधु होते तो तुम्हें इस विषय में इतना अधिक कहने की आवश्यकता न होती। तुम गृहस्थ श्रावक हो और इसीलिए तुम्हें समष्टि का ध्यान रखकर नियम वनाना चाहिए। व्यक्तिगत प्रश्नों को एक ओर रखकर समष्टि के हित का श्रावकों को खास ध्यान रखना चाहिए। अगर तुम अपने गृहस्थधर्म का बरावर पालन करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। अब मूल विषय पर आना चाहिए।

उपधि की व्युत्पत्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—जिसके प्रताप से आत्मा दुर्गति को प्राप्त हो वह उपधि है। श्रीस्थानांगसूत्र में उपधि के तीन भेद कहे गये हैं (१) कर्म-उपधि (२) शरीर उपधि और (३) बाह्य भंडोपकरण उपधि।

कर्म भी उपधि है और इस उपधि के कारण आत्मा परमात्मा से बिछुड़ा हुआ है। कर्म उपधि के कारण ही आत्मा को सुख: दु:ख का अनुभव करना पड़ता है। परन्तु सुख-दु:ख वाहर से आए हैं, इस प्रकार आत्मा का मानना भूल है। कर्म-उपधि के कारण ही आत्मा को शरीर धारण

करना पड़ता है। आत्मा जब शरीरधारी वना है तो उसे अनेक वाह्य वस्तुओं की भी आवश्यकता रहती है। आत्मा इन वाह्य वस्तुओं को अपनी मानना भयानक भूल करता है। मकान, लकड़ी, पत्थर, मिट्टी आदि से वनता है। परन्तु आत्मा उसे अपना समझ वैठता है। जव तक मकान, लकड़ी, पत्थर आदि से नहीं वना था तब तक आत्मा को उसके प्रति ममत्व भाव नहीं था। परन्तु घर जव तैयार हो गया तब आत्मा ममता के कारण उसे अपना मानने लगा। इस प्रकार कर्म उपधि और शरीरउपधि के कारण ही वाह्य उपकरणों की आवश्यकता उपस्थित होती है और फिर उन वाह्य उपकरणों के प्रति ममता का भाव जागृत हो जाता है। शास्त्र के कथनानुसार यह उपधि ही उपधि है। यह उपधि आत्मा को संसार-जाल में फंसाने वाली है। अतएव उपधि के त्याग का यथाशक्ति प्रयत्न करो और वाह्य पदार्थों के प्रति जो ममत्वभाव बन्ध गया है उसे शक्य प्रयत्न द्वारा दूर करो।

प्रश्न किया जा सकता है कि उपधि का त्याग किस प्रकार किया जाये और पदार्थों सम्बन्धी ममता का निवारण किस प्रकार किया जाये ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि धर्म की आराधना करने से उपधि का त्याग भी हो सकता है और ममत्व भी दूर हो सकता है। धर्म दो प्रकार का है आगारधर्म अर्थात् गृहस्थधर्म और अनगारधर्म अर्थात् साधुधर्म। दोनों प्रकार के धर्म की श्रद्धा तो समान ही है, केवल स्पर्शना-आराधना में अन्तर है। अतएव अगर आज तुम शास्त्र के इस कथन को जीवन में सक्रिय रूप नहीं दे

सकते तो इतना तो मानो कि उपधि, उपधि ही है और आत्मा तथा इतर पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। सांसारिक पदार्थों में जितनी कम ममता होगी उतना ही अधिक सुख मिलेगा और जितनी ज्यादा ममता होगी उतना ही अधिक दुःख होगा। जब तक तुम इन पदार्थों की ममता में फंसे रहोगे तब तक आत्मा की उन्नति नहीं हो सकेगी। आज का विज्ञान भी यही कहता है कि जो मनुष्य दूसरों के फंदे में फंसा रहता है वह अपना विकास नहीं कर सकता। ममत्व का त्याग करने वाला ही अपना विकास कर सकता है। कमल जल में लिप्त होकर रहे तो उसका विकास नहीं हो सकता। वह जल से अलिप्त होकर जब बाहर निकलता है तभी उसका विकास होता है। यही बात आत्मा के विकास के लिए लागू होती है। आत्मा भी जब तक बाह्य पदार्थों में लिप्त रहता है, तब तक वह अपना विकास नहीं साध सकता। जब वह पदार्थों के ममत्वलेप से रहित हो जाता है तभी अपना विकास साध सकता है इसीलिए शास्त्रकारों ने उपधि के त्याग का उपदेश दिया है। भगवान् ने कहा है—उपधि का त्याग करने से आत्मा कर्मरहित बनकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन सकता है। इस प्रकार एक तरह की उपधि का त्याग करने से प्राप्त होने वाला फल कहा गया है। एक उपधि ऐसी भी है जिससे संयम मार्ग की पुष्टि होती है। प्रश्न किया जा सकता है कि एक ओर तो उपधि का त्याग करने के लिए कहा जाता है और दूसरी ओर उपधि से संयम की पुष्टि होना बतलाया जाता है। इसका क्या कारण है? इसका समाधान यह है कि उपधि बन्धन-रूप होने से त्याज्य है और दूसरी संयम में सहायक होने

के कारण, विवश होकर रखनी पड़ती है। इसी कारण ग्राह्य है। यह बात एक साधारण उदाहरण द्वारा वि स्पष्ट की जाती है।

कल्पना करो, किसी मनुष्य के पैर में फोड़ा हो ग है। डाक्टर ने मलहम लगा कर पट्टी वांधने के लिए कह डाक्टर के कथनानुसार उसने मलहम लगाया और पट्टी व ली। अब यहां विचारणीय यह है कि उसने कपड़े की पट् ममता के कारण वांधी है या दुःख दूर करने के लिए वां है ? आखिर वह पट्टी को छोड़ ही देने वाला है। मग जब तक उसके पैर में फोड़ा है तब तक उसे पट्टी वांधन पड़ेगी। पैर में फोड़ा न होता तो वह पट्टी क्यों वांधता पैर में पट्टी बांधने की इच्छा तो उसकी है नहीं, फिर भ फोड़े की पीड़ा जब तक बनी है तब तक विवश होकर उरं पट्टी वांधनी पड़ती है।

यह बात साधुओं की उपधि के विषय में समझना चाहिए। साधु संयम का पालन करने के लिए ही उपधि रखते हैं। अगर रखकर अर्थात् वस्त्र पात्र आदि संयम के साधन रखकर साधु अभिमान करे तो वह उसी प्रकार अनुचित है, जैसे फोड़ा न होने पर भी पट्टी बांधना अनुचित है। परन्तु जैसे फोड़ा होने पर पट्टी वांधना अनुचित नहीं है, उसी प्रकार निरभिमान होकर और अपनी अशक्ति को स्वीकार करके उपधि रखना साधुओं के लिए अनुचित नहीं है। शहरों में कितने ही भिखारी भीख मांगने के लिए पैर पर कपड़ा वांध कर ढोंग करते हैं। ऐसा ढोंग करना दूसरी वात है। ऐसा ढोंग करके उपधि रखने वाले को सभी ने

निंदा की है। परन्तु फोड़ा होने पर जैसे पट्टी बांधना अनुचित नहीं है, उसी प्रकार संयम का पोषण करने वाली उपधि को, जब तक कर्मों का नाश न हो जाए तब तक या उपधि त्याग करने की शक्ति आने तक, रखना अनुचित नहीं है। हां, उपधि रखकर अभिमान करना या आनन्द मानना उसी प्रकार मूर्खता है, जिस प्रकार फोड़ा न होने पर भी पैर में पट्टी बांधना मूर्खता है। भगवान् कहते हैं, जिस वस्तु की जितनी अनिवार्य आवश्यकता है उतनी ही उपधि रखना चाहिए, परन्तु जिसकी आवश्यकता नहीं है और जिसका त्याग करने की शक्ति है, उस वस्तु को अपनाये रखना भी मूर्खता है। फिर भी जब तक उपधि रखनी पड़ रही है तब तक किसी प्रकार का अभिमान न करना चाहिए। ऐसा न हो कि सुन्दर वस्त्र और सुन्दर अन्य वस्तुएं रखे और फिर उन पर ममत्व एवं अभिमान करे! फोड़े पर जो पट्टी बांधी जाती है वह आघात आदि से बचने के लिए ही है, सुन्दरता बढ़ाने के लिए नहीं। इस प्रकार साधु जो वस्त्र रखते हैं सो लज्जा की रक्षा के लिए ही है तथा शरीर को शीत और ताप के आघात से बचाने के लिए है, जिन्हें सहन करने की शक्ति साधु में अभी तक नहीं आई है। अतएव साधुओं को वस्त्र आदि रखने में शृंगार की भावना से बचना ही चाहिए। शृङ्गार की भावना होने पर वस्त्र आदि उपधि संयम में बाधक सिद्ध होती है।

शक्ति न होने पर भी उपधि का त्याग कर देना उचित नहीं, ऐसा करने से अनेक अनर्थ उत्पन्न होने की संभावना रहती है। जैसे फोड़ा मिटने से पहले ... उतार देने से फोड़े के बढ़ जाने का, पक जाने का

कीड़े पड़ जाने का भय रहता है, उसी प्रकार शक्ति न होने पर भी उपधि का त्याग करने से अनेक अनर्थ होने की संभावना रहती है। अतएव उपधि का त्याग करने में विवेक की आवश्यकता है। अगर शक्ति हो तब तो उपधि का त्याग करना ही चाहिए। अगर शक्ति न हो तो संयम के निर्वाह के लिए उपधि रखना कुछ बुरा नहीं है। हां, उपधि के कारण अभिमान करना तो बुरा ही है। शास्त्र कहता है कि साधुओं को तो ऐसी ऊंची भावना भानि चाहिए कि वह शुभ अवसर कब मिलेगा जब मैं सब प्रकार की उपधि का त्याग कर जिनकल्पी बनकर विचरूंगा। जब साधुओं को ऐसी उच्च भावना भाने के लिए कहा गया है तो फिर उपधि रखने के कारण साधुओं को अभिमान क्यों करना चाहिए। उपधि रखकर अभिमान करने से संयम का पोषण करने वाली भी दुर्गति के मार्ग पर ले जाने वाली बन जाती है।

उपधि के त्याग से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—उपधि का त्याग करने वाला भय आदि क्लेश से रहित हो जाता है अर्थात् उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता। उपधि का त्याग करने से जीवात्मा किस प्रकार निर्भय बनता है, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाई जाती है—

मान लो, एक आदमी सोने का हार पहन कर जंगल में गया है और दूसरे आदमी ने सोने का कुछ भी गहना नहीं पहना। अब जंगल में चोर मिल जाये तो किसे भय लगेगा? अगर सोने का हार पहनने वाले के हृदय में हार के प्रति ममत्व न होगा और निर्भय होकर वह विचार करेगा

कि सोना क्या चीज है ! चोर ले जाये तो भले ही ले जाये, तो उसे भय होने का कोई कारण नहीं। अगर हार के प्रति उसे ममता होगी तो चोर का भय लगे विना नहीं रहेगा। सोने के प्रति ममत्व होने के कारण कभी-कभी सोने के साथ जान जाने का भी भय हो जाता है ।

जिस प्रकार सोने के प्रति ममता न होने के कारण मनुष्य निर्भय बन जाता है, उसी प्रकार उपधि का त्याग करने से जीवात्मा क्लेशरहित हो जाता है । वाह्य उपधि का त्याग करने के वाद कर्म की और शरीर की जो उपधि शेष रह जाती है, उसके लिए भगवान् ने कहा—वाह्य उपधि की भांति कर्म और शरीर की उपधि का भी त्याग करना चाहिए । उपधि का त्याग करने से ज्ञान, ध्यान तथा स्वाध्याय भी भलीभांति हो सकता है । जव तक उपधि होती है तब तक उपकरणों की सार-संभाल भी रखनी पड़ती है और उनके उठाने-धरने की भी चिन्ता करनी पड़ती है । इसी प्रकार जब तक शरीर की उपधि वनी है तव तक भोजन पानी लेने के लिए जाने में भी समय का भोग देना ही पड़ता है । अतएव उपधि का जितना त्याग हो सके उतना ही अच्छा है । लेकिन अपनी शक्ति देखकर ही उपधि का त्याग करना उचित है । उपधि के त्याग की शक्ति न हो तो उपधि के कारण अभिमान नहीं करना चाहिए वरन् ऐसी उच्च भावना भानी चाहिए कि मैं उपधि का त्याग करने के लिए कव समर्थ हो सकूंगा !

उपधि दो प्रकार की होती है—औघिक उपधि और औपग्रहिक उपधि । जिसके विना काम चल ही नहीं सकता

जाती है और घड़ा गिर न जाय, इस बात का ध्यान भी रखती है। जैसे पनिहारी का चित्त घड़े की ओर बराबर लगा रहता है, उसी प्रकार दूसरे काम करते हुए भी तुम अपने चित्त को परमात्मा में पिरोदो तो कितना अच्छा हो ? परमात्मा में चित्त एकाग्र करने से आत्मा का हित भी होता है और चित्त भी स्वच्छ रहता है। मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है, अतएव मन जितना पवित्र रहेगा, उतना ही कल्याण होगा। मन को स्वच्छ और पवित्र रखने का सबसे अच्छा साधन परमात्मा का नाम स्मरण करना है। तुम्हारे शरीर को राजा कदाचित् बन्धन में डाल सकता है परन्तु मन को राजा तो क्या, कोई महान् शक्तिशाली व्यक्ति भी बन्धन में नहीं बांध सकता। मन तो स्वतन्त्र ही है। अतएव जेल में भी अगर मन से परमात्मा का स्मरण किया जाये तो जेल भी कल्याण का धाम बन सकता है।

श्रीकृष्ण का जन्म कारावास में हुआ था। वसुदेव और देवकी जब कारागार में बन्द थे तब कृष्ण का जन्म हुआ। फिर भी क्या वे जेल में दुःख मानते थे ? अगर उन्होंने कारागार को कष्टागार माना होता तो क्या वे श्री कृष्ण का आनन्द लूट सकते थे ?

एक पुस्तक में मैंने पढ़ा है कि देवकी जैसी सहनशील स्त्री दूसरी नहीं हुई। देवकी में स्त्री उचित अन्यान्य सद्गुण तो थे ही, परन्तु पति के वचन की रक्षा के लिए अपनी संतान को सौंप देना और फिर समता रखना उसका बड़ा भारी गुण था। संतान सभी को प्रिय होती है। पशु-पक्षी

हूं। इसलिए तुम्हें जो उचित प्रतीत हो वही करो। वसुदेव भी क्षत्रिय और वीर पुरुष थे। वह भी अपने वचन का पालन करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे।

आज तुम लोगों ने कायरता के कपड़े पहन लिये हैं और इसी कारण तुम धार्मिक कार्यों में भी कायरता दिखलाते हो और जो वचन देते हो उसका बराबर पालन नहीं करते। मगर दिये हुए वचन का प्राणों का उत्सर्ग करके भी अवश्य पालन करना चाहिए। कहा भी है—

**सत मत छोड़ो शूरमा, सत छोड़े पत जाय।**
**सत की बांधी लक्ष्मी, फेर मिलेगी आय॥**

दृढ़प्रतिज्ञ मनुष्य कदापि वचनभंग नहीं करता। वचन भंग करने से प्रतिति-विश्वास कम हो जाता है। अतएव वचन का पालन करके प्रत्येक का विश्वास-सम्पादन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

विवाह के समय तुमने अपनी-पत्नी को और तुम्हारी पत्नी ने तुम को क्या वचन दिया था? तुमने आपस में कैसी प्रतिज्ञा ली थी? इस बात पर जरा विचार करो। पत्नी ने उस समय पतिव्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा ली थी और पति ने पत्नीव्रत के पालन की। तुम विवाह के समय ऐसी प्रतिज्ञा तो लेते हो पर उसका बराबर पालन करते हो? पत्नीव्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा लेने वाला पति अगर परस्त्री का सेवन करता है तो वह अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होता है या नहीं? ज्ञाती के सामने ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा को पति या पत्नी भंग करे तो कितना अनुचित है? अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना प्रत्येक का कर्त्तव्य है।

वसुदेव अपनी प्रतिज्ञा के पालन में दृढ़ रहे। वे यह

विचारते थे कि सिर पर कितना संकट क्यों न आ पड़े धर्मपालन में तो दृढ़ ही रहना चाहिए । धर्मपालन में दृढ़ रहने वाले लोगों की सेवा करने के लिए देव भी लालायित रहते हैं । कहा भी है—

**देवा वि त नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ।**

अर्थात्—धर्म में दृढ़ रहने वाले धर्मात्माओं को देव भी नमस्कार करते हैं । इस कथन के अनुसार देवकी की संतान मारी नहीं गई । हरिणगमेषी देव ने उसकी संतान नाग गाथापति के घर पहुंचा दी और नाग गायापति की मृत संतान लाकर वसुदेव को सौंप दी । इस प्रकार सत्य पर दृढ़ रहने के कारण वसुदेव की किसी प्रकार की हानि नहीं हुई ।

भाइयों ! तुम भी सत्य और धर्म पर श्रद्धा रखो । सत्य और धर्म पर श्रद्धा रखने वालों की रक्षा हुई है, होती है और होगी । अगर तुम्हारे अन्तःकरण में धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती तो यहा आना भी निरर्थक है । अतएव निर्ग्रन्थवचन पर श्रद्धा रखो । तुम और हम निर्ग्रन्थप्रवचन से बन्धे हुए हैं । आपके और मेरे वीच सम्वन्ध जोड़ने वाला निर्ग्रन्थप्रवचन ही है । अतएव उस पर श्रद्धा रखकर सत्य का पालन करने वाले और देवकी जैसी पतिव्रता के घर ही श्रीकृष्ण जैसे महापुरुषों का जन्म होता है । ऐसे महापुरुष जन्म लेकर क्या करते हैं, इस विषय में गीता में कहा है—

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।**<br>
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥**

अर्थात्—जब धर्म का अपमान होता है और अधर्म का साम्राज्य फैलता है, तब महापुरुष का जन्म होता है। वह महापुरुष धर्म की रक्षा करता है। मनुस्मृति में कहा है—'धर्मो रक्षति रक्षितः' अर्थात् जो व्यक्ति धर्म की रक्षा करता है, धर्म उस व्यक्ति की रक्षा करता है। अतः धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रखकर उसका पालन करो और परमात्मा का स्मरण करने में मन को तल्लीन कर दो। इसी में स्व-पर का कल्याण है।

गौतम स्वामी के इस प्रश्न से उपधि का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है, यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपधि रखने में लाभ नहीं वरन् उपधि का त्याग करने में ही लाभ है। इसलिए शास्त्र में भी कहा गया है—

**उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।**
**मायामज्जवभावेणं लोहं संतोसओ जिणे॥**

अर्थात्—उपशम-क्षमा द्वारा क्रोध का नाश करो, मृदुता से मन को जीतो, आर्जव से माया को जीतो और संतोष से लोभ को जीतो।

क्रोध आदि आत्मा को का शत्रु माना जाये तो ही उन्हें जीता या नष्ट किया जा सकता है। क्रोध तो साक्षात् शत्रु है ही, अहंकार भी आत्मा का शत्रु ही है। अतएव क्षमा के द्वारा क्रोध को और नम्रता के द्वारा अहंकार को जीत लेना चाहिए। जब आम के पेड़ में फल लगते हैं तो वह नम जाता है, मगर एरण्ड नहीं नमता। अब विचार करो कि तुम आम जैसे बनना चाहते हो या एरण्ड सरीखे

बनना चाहते हो ? आम सरीखा बनने के लिए तुम्हें नम्रता सीखना चाहिए। वास्तव में संसार में वही पुरुष यशस्वी बनता है, जिसमें अहंकार नहीं होता और नम्रता होती है। जिसमें अहंकार भरा है वह नष्टप्राय हो जाता है। अहंकारी व्यक्ति का अहंकार ही उसके नाश का कारण बन जाता है।

रावण का नाश अहंकार के कारण ही हुआ था। वह अच्छी तरह जानता था कि सीता का हरण करके मैंने अच्छा काम नहीं किया। मगर उसे अभिमान था कि मैं लंका का स्वामी हूं, अब उसे वापिस कैसे लौटाऊं ! मंदोदरी ने रावण को बहुत समझाया था—

**सासु नारि निज सचिव बुलाई**
**पहुंचावहु जो चहहु भलाई।**

अर्थात—अगर तुम अपना और राज्य का भला चाहते हो तो आज ही अपने मन्त्री को बुलाकर सीता को वापस भेज दो। मन्दोदरी ने इस प्रकार रावण को समझाया। रावण भी यह समझ गया था कि सीता को वापस न करने से हानि ही होगी, मगर उसमें अहंकार था। वह सोचता था कि मैं जिस सीता को ले आया हूं उसे वापस सौंप देना मेरी कायरता कहलाएगी लोग मुझे कायर कहेंगे। इसी अहंकार के कारण वह राम के पास सीता न भेज सका। इस अहंकार का नतीजा यह हुआ कि रावण का नाश हो गया।

रावण तो अपने बल और वैभव आदि के कारण अहंकार करता था, परन्तु तुम किस बरते पर अहंकार कर

रहे हो ? अहंकार विनाश का मूल कारण है, ऐसा समझ कर अहंकार का त्याग करो और नम्रता धारण करो ।

आम को कोई पत्थर मारे या लकड़ी मारे, वह तो सब को मीठे फल देता है । आम किसी पर क्रोध नहीं करता और न ऐसा अभिमान ही करता है कि मैं सब को मीठे फल देता हूं ! इसके विपरीत तुम सार-असार का विवेक कर सकने वाली बुद्धि-शक्ति के धनी हो फिर भी साधारण-सी वात में क्रुद्ध हो जाते हो ! और धन के मद में चूर होकर व्यर्थ ही अहंकार का प्रदर्शन करते हो ! जरा विचार करो, यह कितनी बुरी वात है । क्रोध-अहंकार वगैरह आत्मा के विकार हैं । इस विकाररूप उपधि का त्याग करने में ही लाभ है। भगवान् महावीर ने भी यही वतलाया है कि उपधि का त्याग करने से हानि नहीं वरन् लाभ ही होता है । उपधि का त्याग करने से आत्मा निःसंक्लेश वनता है । आत्मा और परमात्मा में उपधि के कारण ही अन्तर है । उपधि का सर्वथा विनाश हो जाने पर आत्मा और परमात्मा के वीच किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहेगा ।

पानी तो सरोवर में भी होता है और एक पात्र में रखा हुआ पानी भी पानी ही है । पानी दोनों जगह है, मगर भिन्न-भिन्न स्थिति में होने के कारण उसमें भेद है । अगर पात्र का पानी सरोवर के पानी में मिला दिया जाये तो दोनों में क्या भेद रह जाएगा ? फिर तो दोनों पानी एकमेक हो जाएंगे । जहां तक पात्र की उपधि थी वहीं तक भेद था । पात्र की उपधि हटते ही किसी प्रकार का भेद नहीं रहा ।

इस साधारण से मालूम होने वाले उदाहरण में भी बहुत सार छिपा है। इस उदाहरण से संगठन के साथ एकतापूर्वक रहने का उपदेश मिलता है। अगर समाज में ऊपर के उदाहरण का अनुकरण किया जाये तो बहुत सुधार हो सकता है। अगर कोई मनुष्य किसी दुर्गुण के कारण समाज से बहिष्कृत हुआ हो और फिर वह प्रायश्चित लेकर दुर्गुण का त्याग करके फिर समाज में सम्मिलित होना चाहे तो उसे समाज में पूर्ववत् स्थान मिलना चाहिए। परन्तु आज समाज की स्थिति अस्तव्यस्त हो गई है और समाजव्यवस्था ठीक तरह नहीं चल रही है। समाजसेवकों को विचार करना चाहिए कि सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए समाज की व्यवस्था ठीक करने की सर्वप्रथम आवश्यकता है। समाज की व्यवस्था बराबर सुधर जाएगी तथा समाज में सब को समान स्थान मिलेगा तो समाज की दशा भी अवश्य सुधर जाएगी।

कहने का आशय यह है कि आतमा और परमात्मा में कर्मरूपी उपधि के कारण ही भेद है। जो व्यक्ति कर्म की उपधि का त्याग कर देता है, वह परमात्मामय बन जाता है। इसीलिए परमात्मा के प्रति ऐसी प्रार्थना की गई है कि—

प्रभुजी मेरे अवगुण चित न धरो।
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो,
मिलके दोऊ एक रूप भई तो सुरसरि नाम परो॥प्रभुजी॥
एक लोहा पूजा में राखत एक घर बधिक परो।
पारस तामे भेद ना राखत कंचन करत खरो॥प्रभुजी॥

गटर का पानी गन्दा और खराब होता है और गंगा का पानी निर्मल तथा अच्छा होता है। सुना है, काशी-नगरी की सब गटरें बहुत गन्दी हैं और उन सब का गन्दा पानी गंगा नदी में जाता है। गंगा का पानी पवित्र और गटर का अपवित्र माना जाता है अतएव अगर गंगा अपने पानी में गटर का पानी न आने दे तो क्या तुम गंगा को गंगा कहोगे? गटर गन्दी होती है फिर भी गंगा उसे अपने में मिला लेती है और गटर को भी गंगा रूप बना लेती है। जो अपनी अपवित्रता दूर करके पवित्र बनना चाहता है, गंगा उसे अपने ही समान पवित्र बना लेती है।

जब गंगा भी उपाधि का त्याग करके आये हुए गटर के पानी को अपने साथ मिला कर पवित्र बना देती है तो क्या परम पवित्र परमात्मा उपाधि का त्याग करके आये हुए प्राणियों को पवित्र नहीं बनाएगा? परमात्मा तो प्रत्येक प्राणी को–चाहे वह छोटा हो या बड़ा, उच्च हो या नीच हो पवित्र बनाता है। उपाधि का त्याग करके आत्मा अगर परमात्मा के शरण में जाये तो आत्मा परमात्मा बन जाता है। शास्त्रकार भी यही उपदेश देते हैं कि उपाधि का त्याग करो और विपत्ति को सम्पत्ति समझ कर आत्मद्धार करो। आमोद्धार करने में ही कल्याण है। जो व्यक्ति आत्म-कल्याण करके पर का कल्याण करता है वही व्यक्ति पूजनीय माना जाता है।

लोग शंकर को मानते हैं। पर किस कारण? इसी कारण कि शंकर जगत् का कल्याण करने वाले माने गये हैं। 'शंकर' की व्याख्या करते कहा गया है शं–करोतीति

शंकर अर्थात् जो जगत् के दुःख दूर करके जगत्कल्याण करता है, वही शंकर है। कहा जाता है कि समुद्र मंथन करते-करते अन्य चीजों के साथ हलाहल विष भी निकला था। दूसरी चीजें तो दूसरे लोग ले गये पर हलाहल विष को कौन ले ? इस विष को लेने के लिए कोई तैयार नहीं था। तब विष्णु ने शंकर से कहा—आप देवाधिदेव हैं, अतएव जगत् की रक्षा के लिए विषपान करके कृतार्थ कीजिए। शंकर भोले थे। जिसमें भोलापन होता है वही जगत् की रक्षा के लिए तैयार होता है। राम भी भोले थे, इसी कारण वे राज्य का त्याग करके वन में गये थे। ऐसे भोले ही परमात्मा के सन्निकट पहुंचते हैं। महादेव भोले थे, अतएव उन्होंने विषपान कर लिया।

महादेव ने तो जगत् की रक्षा के लिए विषपान किया था, परन्तु आज लोग महादेव के नाम पर गांजा-भांग आदि नशैली और विषैली वस्तुओं का उपयोग करते हैं ! जब मैंने संयमधर्म स्वीकार नहीं किया था, वैराग्य अवस्था में ही था, तब एक बार मुझे पास के गांव में जाना पड़ा। मेरे पास एक आदमी था। उसने मुझसे पैसे मांगे। मैंने उससे पूछा-पैसे किसलिए चाहिए ? उसने उत्तर दिया-मुझे दारू पीना है और इसीलिए पैसों की आवश्यकता है। मैं विरक्त अवस्था में था। मैंने उससे कहा—दारू पीने के लिए मैं पैसे नहीं दे सकता। तब वह कहने लगा—दारू पीने में हर्ज क्या है ? दारू तो महा देव ने बनाई है।

इस प्रकार दारू आदि नशैली वस्तुओं का उपयोग करने में महादेव कारण बतलाये जाते हैं। व्यसनी लोग

महादेव को व्यसनपूर्ति का साधन बना लेते हैं जब कि भक्त लोग उन्हें भक्ति का भगवान् मानते हैं। वास्तव में जगत् की रक्षा के अर्थ विषपान करने वाले शंकर व्यसनी लोगों के व्यसनपूर्ति के साधन किस प्रकार हो सकते हैं ? शंकर को तो जगत् का कल्याण करने वाले लोग ही प्यारे लगेंगे। महादेव ने विषपान करके विपत्ति को भी संपत्ति के रूप में ग्रहण किया था और जगत् की रक्षा की थी। शंकर बनने का यही मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करके महापुरुष महत्ता और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। जो मनुष्य जगत्कल्याण के लिए स्वयं कष्ट सहन करता है और विपत्ति को भी सम्पत्ति मानता है, वही मनुष्य महादेव या परमात्मा का भक्त है।

शास्त्र कहता है उपधि या उपाधि का त्याग करने से आत्मा संक्लेशहीन बनता है। शास्त्र की इस बात पर साधुओं को तो ध्यान देना ही चाहिए, मगर श्रावकों के लिए भी यह बात समान रूप से लागू पड़ती है। शास्त्रकारों ने साधुओं के लिए सोने-चांदी की चीजों का त्याग करके केवल काष्ठ, तूम्बा या मिट्टी के पात्र रखने की आज्ञा दी है। फिर काष्ठ के पात्रों पर ममता रखने की या उन्हें गृहस्थों के घर ताले में बन्द रखने की इच्छा कितनी अनुचित है ! अतएव साधुओं के लिये तो उपधि का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार उपधि का त्याग करना आवश्यक है। राम या भगवान् महावीर की प्रशंसा उपधि का त्याग करने के कारण ही की जाती है।

होकर कुछ देर तो उसे घुमाता रहा, फिर मौका देखकर और सोना उठाकर ऐसा भागा कि जागीरदार और उसके आदमी आंखें फाड़कर देखते रह गये।

इस प्रकार ताम्बे से सोना बनाने की ठगविद्या से अनेक लोग ठगे गये हैं। परन्तु आत्मा को परमात्मा बनाने का रसायन इतना उत्तम है कि उससे विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है। यह रसायन अनेक महापुरुषों द्वारा अनुभूत है। इस अनुभूत रसायन के द्वारा ठगे जाने का अणुमात्र भी अंदेशा नहीं। इस रसायन के सेवन से आत्मा, परमात्मा अथवा नर, नारायण बन जाता है। ताम्बे से सोना बनाना तो ठगविद्या है। परन्तु आत्मा से परमात्मा प्रकटाना सच्ची सद्विद्या है। यही सद्विद्या मुक्ति का साधन है। इस साधन द्वारा आत्मा का कल्याण करो। इसी में मानव-जीवन की सिद्धि है।

